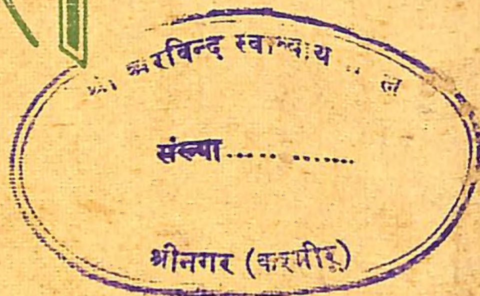
वर्ष १४ अंक ४ नवंबर १९५६

अदिति

सह

भारत माता



अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द



पत्रिका का शुल्क

वार्षिक ६) एक साधारण अङ्क १।।)

विदेश का शुल्क

वार्षिक १२।। शिलिंग एक अङ्क ३।। शिलिंग

विशेषांकों का शुल्क

श्रीअरविंद——अपने तथा श्री माताजी के विषय में
(अगस्त ५४ से अगस्त ५५ तक पांच अंकों में) १०।।)

अदिति

सह

भारत माता

TEL : 31829

BHARAT MATA

Receipt No. 890 ADITI SAH BHARATMATA C/o SRI AUROBINDO ASHRAM PRESS PONDICHERRY ~~32, Rampart Row, Fort,~~ Bombay, 27. 9 1956

Received *with thanks from* Sri Aurobindo Swadhyaya Mandal (Kashmir) Srinagar *Subscriber No.* 22

Sum of Rs. 6/-

on account of Aditi August '56 to April '57

Rs.

Accountant. *Receiver's Signature* Chandradip

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द



पत्रिका का शुल्क

वार्षिक ६) एक साधारण अङ्क १।।)

विदेश का शुल्क

वार्षिक १२।। शिलिंग एक अङ्क ३।। शिलिंग

विशेषांकों का शुल्क

श्रीअरविंद—अपने तथा श्री माताजी के विषय में

(अगस्त ५४ से अगस्त ५५ तक पांच अंकों में) १०।।)

अदिति

सह

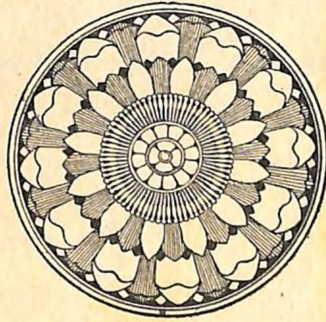
भारत माता

छप्पनवीं कला

श्रीअरविन्दके सिद्धि-दिवस, २४ नवंबर १९५६ के उपलक्ष्य में

भारतीय संस्कृतिके आधार

(धारावाहिक–५)



अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम

पांडिचेरी

२४ नवंबर १९५६

कालकी परवा न कर, देशके भयसे रहित होकर, अग्निपरीक्षाकी ज्वालाओंमेंसे शुद्ध-पवित्र होकर उछलते हुए हम अपने लक्ष्यकी सिद्धि--अतिमानसिक विजयकी ओर बिना रुके उड़ते चले जायंगे।

--श्रीमाताजी

प्रबन्ध-संपादक, श्रीकेशवदेव पोद्दार (३२ रामपार्ट रो, फोर्ट, बम्बई) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाईड रो, कलकत्ता-२२); प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई देहली)।

Le Directeur: Haradhan Bakshi, Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
893/56/11/1200

भारतीय संस्कृतिके आधार

३

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

(अगस्त १९५६ के अंकसे आगे)

विषय-सूची

भारतीय संस्कृतिके आधार

३

भारतीय संस्कृतिका समर्थन



Thus speaks Sri Swami Ji

Life is a festival and therefore it must be celebrated in its purity, divinity and eternity.

Life and God, they are so interconnected that it is impossible to separate them.

God is that part of our life which remains out of the hold of our hands, eyes and intellect.

Life is that part of God which comes in hold of our hands, eyes and logic.

Life is the seen God and God is an unseen life. Both are one. They never separate, never breaks.

God is that which one can not depart from. And that from which one can depart is not the God.

So the method of God realization is to find out THAT from which you have never departed and can not ever depart.

Live this state of consciousness 24 hours even while engeged in activities. This I call LIFE.

This LIFE is an ETERNAL-FESTIVITY.

And the way to celeberate it, is MEDITATION.

Five stages of Meditation in SUPREME KNOWLEDGE MISSION

1 Experience of the Self-within.

2 (A) Self-manifestation, that means experience of the self alongwith waking, dreaming and sleeping states of consciousness.

(B) Experience of Cosmic-love like a silent ocean

3 Experince of overflowing searching waves of the ocean of Cosmic-love.

4 Recognition with the unknown friend God and begining of the ultimate game, the Eternal-play of the Self with God.

5 Eternal-Union in the state of Supreme-Knowledge.

Supreme Knowledge Mission Movement

Under the Divine Guidence of His Holiness
Paramhans Shri Kaivalya 'Swami'

707, Old Kalidah
Vrindaban
Mathura

PATHANKOT
11/9/74

Respected Shri Maharaj Laxman Joo,

OM Nāmo Narayanay.

A few days ago I heared about you. Always my mind remains desirous to see and speak with God-realized souls like Your-Holiness.

I want conversation on ईश्वर-दर्शन with Your-Holiness and also I would like to listen on विज्ञान-भैरव. I want to come and stay with you from 16 th Sept. to 26 th Sept.

Will this time suit you?

Please inform me in following address

Your's
Swami Kaivalya

C/O S.N. Rampal
At. Maralia Meeransahib
Jammu Tawi
Kashmir.

...amahans Sh. Kaivalya Swami
...nsor Of
...wledge Mission

विषय-सूची

भारतीय संस्कृतिके आधार

३

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

नवां अध्याय

भारतीय कला

प्राचीन और उत्तरकालीन भारतकी चित्रकलाकी अपेक्षाकृत बहुत ही कम कृतियां बच रही हैं और इसलिये वह (चित्रकला) ठीक उतना ही बड़ा प्रभाव उत्पन्न नहीं करती जितना कि उसकी स्थापत्यकला और मूर्त्तिकला करती हैं। यहांतक भी कल्पना की गयी है कि यह कला केवल बीच-बीचमें ही फूली-फली, अंतमें कई सदियोंके लिये विलुप्त हो गयी और फिर आगे चलकर मुगलों तथा उनके प्रभावमें आये हुए हिंदू कलाकारोंके द्वारा पुनरुज्जीवित हुई। किंतु यह एक तुरत-फुरत बनायी हुई सम्मति है जो उपलब्ध प्रमाणकी अधिक सावधानतापूर्वक छानबीन और विवेचना करनेपर नहीं टिक पाती। बल्कि, तब यह पता लगता है कि भारतीय संस्कृति अत्यंत प्राचीन कालसे ही रंग और रेखाके एक सुविकसित और कुशलतापूर्ण सौंदर्यात्मक प्रयोगपर पहुंचनेमें निपुण थी और, उन क्रमिक उतार-चढ़ावों, ह्रासके कालों तथा मौलिकता एवं ओजस्विताके नये आविर्भावोंके लिये अवकाश देते हुए जिनमेंसे मानवका समष्टि मन सभी देशों में गुजरता है, अपनी प्रगति एवं महानताकी लंबी शताब्दियोंमें उसने बराबर ही आत्म-अभिव्यंजनाके इस रूपका बड़ी दृढ़तासे प्रयोग किया। और विशेष रूपसे अब यह प्रकट हो गया है कि उस सौंदर्य-बुद्धिकी जो भारतीय मनके लिये जन्मजात है, एक दृढ़ परंपरा तथा मूलभूत भावना एवं प्रवृत्ति विद्यमान थी जो अत्यंत अर्वाचीन राजपूत-कलाको भी अबतक बची हुई उन प्राचीनतम कृतियोंकी श्रृंखलामें जोड़ देती है जो पहाड़ोंमें बनी अजंताकी गुफाओंमें अपनी सफलताकी चरम सीमाके रूपमें अभीतक सुरक्षित हैं।

दुर्भाग्यवश, चित्रकलाकी साधन-सामग्री सर्जनशील सौंदर्यात्मक आत्म-अभिव्यक्तिकी साधन-रूप किसी भी अन्य महत्तर कलाकी साधन-सामग्रीसे अधिक नाशवान् होती है और इसीलिये इसकी प्राचीन सर्वश्रेष्ठ कृतियोंमेंसे केवल थोड़ी-सी ही बच रही हैं। परंतु ये थोड़ी-सी भी उस कार्यके परिणामकी विशालताको अभीतक प्रदर्शित कर रही हैं जिसका कि ये ध्वंसोन्मुख अवशेषमात्र हैं। कहा जाता है कि अजंताकी उन्तीस गुफाओंमेंसे प्रायः

सभीमें किसी समय भित्ति-चित्रोंके द्वारा की गयी सजावटके चिह्न थ; अभी चालीस वर्ष पहलेतक सोलह गुफाओंमें मूल चित्रोंका कुछ अंश विद्यमान था, परंतु अब केवल छः ही इस प्राचीन कला की महानताकी साक्षी दे रही हैं, हालांकि इनकी भी कला अब द्रुत वेगसे नष्ट हो रही है तथा रंगकी मूल प्रखरता, तेजस्विता और आभाके कुछ अंशसे वंचित हो चुकी है। शेष सारी सजीव समकालीन रचना, जिसने निश्चय ही एक समय संपूर्ण देशको, उसके मंदिरों एवं विहारोंको, सुसंस्कृत लोगोंके घरों तथा सरदारों और राजाओंके दरबारों और प्रमोद-भवनोंको व्याप्त कर रखा होगा, अब नष्ट हो चुकी है, और आज हमारे सामने केवल बाघ (मध्य भारत) की गुफाओंमें समृद्ध और प्रचुर सजावटके कुछ एक ढहते अंश तथा सिगिरिया (लंका) के, चट्टानोंको काटकर बनाये गये दो कमरोंमें नारी-आकृतियोंके कुछ चित्र ही विद्यमान हैं जो अजंताकी कृतियोंसे थोड़ा-बहुत मिलते-जुलते हैं।[1] ये अवशेष कोई छः या सात सदियोंकी रचनाका प्रतिनिधित्व करते हैं, परंतु इनके बीच कुछ रिक्त अंतराल हैं, और ईस्वी सन्‌की पहली सदीसे पूर्वके किन्हीं भी चित्रोंका कोई भी अवशेष आज विद्यमान नहीं है, हां, इससे पूर्वकी पहली सदीके कुछ भित्ति-चित्र अवश्य हैं जो अनाड़ी ढंगसे किये गये जीर्णोद्धारके कारण खराब हो गये हैं; उधर, सातवीं सदीके बाद एक शून्य अंतराल है जो प्रथम दृष्टिमें कलाके पूर्ण ह्रास, अवरोध और विलोपको प्रमाणित कर सकता है। परंतु भाग्यवश ऐसे प्रमाण भी हैं जो इस कलाकी परंपराको उधर एक छोरपर अनेक सदियां पीछेतक ले जाते हैं, और फिर कुछ अन्य अवशेष जो भिन्न प्रकारके हैं तथा भारतसे बाहर और हिमालय-स्थित देशोंमें बहुत हालमें ही उपलब्ध हुए हैं, इस कलाको इधर दूसरे छोरपर बारहवीं सदीतक ले आते हैं और राजपूत-चित्रकलाकी परवर्ती शैलियोंके साथ इसका संबंध जोड़नेमें हमें सहायता पहुंचाते हैं। भारतीय मनके चित्रकलाके द्वारा आत्म-अभिव्यक्ति करनेका इतिहास कम या अधिक शक्तिशाली कलात्मक सृजनके दो सहस्र वर्षोंके कालमें फैला हुआ है और इस बातमें यह वास्तुकला और मूर्तिकलाकी बराबरी करता है।

प्राचीन कालके जो चित्र आज हमारे सामने बचे हुए हैं वे बौद्ध चित्रकारोंकी रचना हैं, पर स्वयं इस कलाका उद्‌भव भारतमें बौद्धकालसे पहले ही हो चुका था। तिब्बतका एक इतिहासकार बताता है कि यहां सभी शिल्पोंका उद्‌गम बुद्धसे पहले ही अत्यंत प्राचीन कालमें हुआ था और आज निरंतर बढ़ते हुए प्रमाण भी अधिकाधिक इसी परिणामकी ओर संकेत कर रहे हैं। ईसासे पूर्व तीसरी सदीमें, हम देखते हैं कि, यहां कलाका सिद्धांत पूर्व कालसे ही सुप्रतिष्ठित चला आ रहा था, छः मूल तत्त्वों, **षडङ्ग**, का आकलन और परि-

[1]इसके बाद दक्षिणके कई मंदिरोंमें कुछ और, उच्चकोटिके चित्र भी उपलब्ध हुए हैं जो अपनी भावना और शैलीमें अजंताकी कला-कृतिके ही सदृश हैं।

गणन भी हो चुका था जो चीनके उन छः न्यूनाधिक सजातीय नियमोंके परिगणनसे मिलता है जिनका वर्णन पहले-पहल लगभग एक हजार वर्ष बाद किया गया मिलता है, और कला-विषयक एक अत्यंत प्राचीन पुस्तकमें जो बुद्धसे पहलेके युगकी मालूम होती है बहुतसे सतर्कतापूर्ण और अत्यंत सुनिर्धारित नियम और परंपराएं प्रतिपादित हैं जिन्हें बादके शिल्प-सूत्रोंमें शिल्प-कौशल और परंपरागत नियमके एक सुविस्तृत शास्त्रके रूपमें विकसित कर दिया गया। प्राचीन साहित्यमें पाये जानेवाले प्रचुर उल्लेख भी ऐसे ढंगके हैं कि यदि सुसंस्कृत वर्गोंके पुरुषों और स्त्रियों दोनोंमें कलाका अनुशीलन एवं मूल्यांकन व्यापक रूपसे प्रचलित न होता तो वे संभव ही न होते, और ये उल्लेख तथा प्रसंग जो इस बातकी साक्षी देते हैं कि सुसंस्कृत जन चित्रित रूपमें, रंगके सौंदर्यमें तथा अलंकार-संबंधी सहज-बुद्धि एवं सौंदर्यात्मक भावावेग दोनोंके प्रति आकर्षणमें मिलनेवाले आनंदसे द्रवित हो उठते थे, केवल कालिदास, भवभूति तथा अन्य उच्चकोटिक नाटककारोंके परवर्ती काव्यमें ही नहीं, बल्कि भासके प्राचीन लोकप्रिय नाटकमें और उससे भी पहलेके महाकाव्यों तथा बौद्धोंके धर्म-ग्रंथोंमें भी पाये जाते हैं। निःसंदेह, इस अधिक प्राचीन कलाकी किन्हीं वास्तविक रचनाओंके न मिलनेके कारण यह पूर्ण निश्चयके साथ नहीं कहा जा सकता कि इसका मूल स्वरूप एवं अंतरंग प्रेरणा-स्रोत क्या था अथवा आया यह अपने उद्‌गममें धार्मिक और पुरोहितीय थी या ऐहलौकिक। यह सिद्धांत वास्तवमें कुछ अत्यधिक निश्चित रूपमें पेश किया गया है कि इस कलाका सूत्रपात राजाओंके दरबारोंमें तथा निरे लौकिक उद्देश्य और प्रेरणाको ही लेकर हुआ, और यह सही है कि जहां बौद्ध कलाकारोंकी बची हुई रचना अपने विषयकी दृष्टिसे मुख्यतया धार्मिक है या, कम-से-कम, वह जीवनके साधारण दृश्योंको बौद्ध क्रिया-कांड और गाथाके साथ जोड़ देती है, वहां महाकाव्यों तथा नाटक-साहित्यमें पाये जानेवाले उल्लेख साधारणतः, अधिक शुद्ध रूपमें सौंदर्यात्मक स्वभावके, वैयक्तिक, पारिवारिक या नागरिक चित्रोंसे संबंध रखते हैं, जैसे, मानव प्रतिकृतिका चित्रण, राजाओं तथा अन्य महान् व्यक्तियोंके जीवनोंके दृश्यों और प्रसंगोंका प्रदर्शन अथवा राजमहलों और व्यक्तिगत या सार्वजनिक भवनोंकी दीवारोंकी सजावट। दूसरी ओर, बौद्ध चित्रकारीमें भी इस प्रकारके तत्त्व हैं, उदाहरणार्थ, सिगिरियामें राजा कश्यपकी रानियोंके चित्र, पारसके राजदूतका ऐतिहासिक चित्रण या विजयका जहाजसे लंकाके तटपर उतरना। और हम न्यायतः ही यह कल्पना कर सकते हैं कि बौद्ध और हिन्दू दोनों प्रकारकी भारतीय चित्रकलाने, बराबर ही, पीछेकी राजपूती कृतिसे बहुत कुछ मिलते-जुलते क्षेत्रमें ही कार्य किया, पर किया अधिक विस्तृत ढंगसे तथा एक पुराकालीन महानतासे युक्त भावनाके साथ; और अपने समग्र रूपमें वह भारतजातिके संपूर्ण धर्म, संस्कृति और जीवनकी व्याख्या थी। इससे जो एकमात्र महत्त्वशाली और अर्थपूर्ण परिणाम निकलता है वह यही है कि समस्त भारतीय कला अपनी मूल भावना और परंपरामें सदा ही एक और अविच्छिन्न रही है। सुतरां, अजंताकी प्राचीनतर कला-

कृति बौद्धोंकी प्राचीनतर मूर्ति-रचनाके सदृश पायी गयी है, जब कि बादके चित्र जावाकी उभरी हुई नक्काशीसे इसी प्रकारका घनिष्ठ साम्य रखते हैं। और हम देखते हैं कि शैली और कार्यधाराके समस्त परिवर्तनोंके होते हुए भी अजंतामें जिस भावना और परंपराका प्रभुत्व है वही बाघ और सिगिरियामें, खोतानके भित्तिचित्रोंमें तथा इन सबसे बहुत अधिक पीछेकी बौद्ध पांडुलिपियोंके पृष्ठोंकी सजावट और चित्रकारीमें भी पायी जाती है और, रूप तथा रीतिके परिवर्तनके होते हुए राजपूती चित्रोंमें भी आध्यात्मिक दृष्टिसे वही वस्तु है। यह एकता और अविच्छिन्नता हमें उस मूल लक्ष्य और उस आंतरिक प्रवृत्ति एवं प्रेरणा तथा आध्यात्मिक पद्धतिको पहचानने और स्पष्ट रूपसे समझनेमें समर्थ बनाती हैं जो भारतीय चित्रकलाको पहले तो पश्चिमी कृतिसे और फिर एशियाके अन्य देशोंकी निकटतर एवं अधिक सजातीय कलासे पृथक् करती हैं।

भारतीय चित्रकलाका मूल-भाव और हेतु अपनी परिकल्पनाके केंद्रमें और अपनी दृष्टिकी रूपनिर्मायक शक्तिमें भारतीय भास्कर-कलाकी अनुप्रेरक दृष्टिसे अभिन्न हैं; समस्त भारतीय कलाका स्वरूप एक विशेष प्रकारकी गभीर आत्म-दृष्टिको बाहर प्रकट करना है जो दृष्टि कि रूप तथा आकारके गुप्त अर्थको ढूंढ़नेके लिये भीतर जानेसे, अपनी गभीरतर आत्मामें कलाके विषयकी खोज करनेसे निर्मित होती है, यह उस दृष्टिको एक आत्मिक रूप देना है तथा स्थूल एवं प्राकृतिक आकारके आंतरात्मिक सत्यको प्रकट करनेके लिये रूपरेखाकी यथा-संभव अधिकतम शुद्धता और शक्तिके साथ तथा एक अविभाज्य कलात्मक समष्टिके सभी अवयवोंमें अर्थकी यथासंभव अधिकतम प्रगाढ़ छंदोमय एकताके साथ उसे नये सांचेमें ढालना है। भारतीय चित्रकारीकी किसी भी श्रेष्ठ रचनाको क्यों न ले लें, हम देखेंगे कि उसमें इन मर्यादाओंको लक्ष्य बनाकर इन्हें संकेत और क्रियान्वितिके जयशाली सौंदर्यके रूपमें व्यक्त किया गया है। अन्य कलाओंसे इसका जो एकमात्र भेद है उसका कारण यह है कि इसकी अपनी एक दिशा है जो इसकी अपनी विशेष प्रकारकी सौंदर्यवृत्तिके लिये स्वाभाविक और अनिवार्य है, तथा यह अंतरात्माकी स्थितिशील नित्य-अवस्थाओंकी अपेक्षा कहीं अधिक उसकी उन अवस्थाओंपर उत्साह और आग्रहके साथ एकाग्र होती है जिन्हें हम गतिशील कह सकते हैं, और (कलामात्रके लिये आवश्यक संयम और नियंत्रणके सदैव अधीन रहते हुए) यह जीवनको आत्माकी स्थिरताओं तथा उसके नित्य गुणों और तत्त्वोंमें निरुद्ध कर रखनेकी अपेक्षा कहीं अधिक आंतरात्मिक और प्राणिक जीवनकी श्री-सुषमा और गतिविधिमें आत्मा-को बाहर ढाल देनेके कार्यपर ध्यान जमाती है। यह भिन्नता अपने सार रूपमें वही भेद है जो मूर्तिकार और चित्रकारके सामने उपस्थित कार्योंमें होता है, यह उनपर उनके करणोप-करण और माध्यमके स्वाभाविक क्षेत्र, प्रवृत्ति और संभावनाके द्वारा थोपा जाता है। मूर्ति-कारको अपने भावकी अभिव्यक्ति सदा स्थितिशील आकारमें ही करनी होती है; उसके लिये आत्माका भाव समूचे आकार और रेखामें ही उत्कीर्ण होता है, तथा अपने मनोयोगकी

स्थिरतामें ही अर्थपूर्ण होता है, और वह इस मनोयोगके बोझको हलका तो कर सकता है पर इससे छूट नहीं सकता न इससे दूर ही हट सकता है; उसके लिये शाश्वतता कालको इसके आकारोंमें अधिकृत कर लेती है और पत्थर या कांसेकी विशाल आत्मामें इसे बन्दी बना डालती है। इसके विपरीत, चित्रकार अपनी अंतरात्माको रंगोंमें लुटा देता है और उसके द्वारा प्रयुक्त रूपमें एक प्रकारकी तरलता तथा रेखामें सूक्ष्मताकी एक प्रवाहशील सुषमा होती है जो उसपर आत्म-अभिव्यंजनाकी एक अधिक गतिशील और भावमयी शैलीको थोप देती है। जितना ही अधिक वह हमें अंतरात्माके जीवनका रंग-रूप, उसका परिवर्तनशील आकार तथा भावावेग प्रदान करता है उतना ही अधिक उसकी रचना सौंदर्यसे चमक उठती है, अंतरीय सौंदर्यबुद्धिको अपने अधिकारमें कर लेती है तथा इसे उस वस्तुकी ओर खोल देती है जिसे उसकी कला हमें अन्य किसी भी कलाकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह प्रदान करती है, वह वस्तु है सत्ताकी सुंदर आकृतियों और रंजित प्रभाओंके अध्यात्मतः इंद्रियग्राह्य हर्षमें आत्माके बहिः-विचरणका आनंद। चित्रकारी, स्वभावतः ही, कलाओंमें सबसे अधिक इंद्रियगम्य है, और चित्रकारके सामने जिस सर्वोच्च महत्ताका मार्ग खुला पड़ा है वह यही है कि वह अत्यंत स्पष्ट बाह्य सौंदर्यको सूक्ष्म आध्यात्मिक भावावेगकी अभिव्यक्ति बनाकर इस ऐंद्रिय अपीलको आध्यात्मिक रूप दे दे जिससे अंतरात्मा और इंद्रिय दोनों अपनी गंभीरतम और सूक्ष्मतम समृद्धियोंमें समस्वर होकर पदार्थों और जीवनके आंतरिक अर्थोंकी संतोषपूर्ण सुसमंजस अभिव्यक्तिमें एकीभूत हो जायं। उसकी कार्य-शैलीमें तपस्याकी कठोरता अपेक्षाकृत कम होती है, शाश्वत वस्तुओंकी और वस्तुओंके रूपोंके पीछे अवस्थित मूल सत्योंकी अभिव्यक्तिको संयत करनेमें कुछ कम कठोरतासे काम लिया जाता है, परंतु इसके बदले वहां अंतरात्माका रसस्निग्ध वैभव या प्राणिक संकेतकी प्रखरता है और है कालके क्षणोंमें कालातीतकी लीलाके सौंदर्यका अपरिमित आनंद और वहां कलाकार उसे हमारे लिये बन्दी बना डालता है तथा मनुष्य या प्राणी अथवा घटना या दृश्य या प्रकृतिके रूपमें प्रतिफलित अन्तरात्माके जीवनके पलोंको हमारी आध्यात्मिक दृष्टिके लिये स्थायी और विपुल अर्थसे पूर्ण बना देता है। चित्रकारकी कला आनंदके लिये इंद्रियकी खोजको आत्माद्वारा प्रकाशित या अपने द्वारा कृतिमें प्रकट किये हुए या छिपाकर रखे हुए वैश्व सौंदर्यके अर्थकी शुद्ध तीव्रताओंके लिये आत्माकी खोजमें बदलकर उसको आत्माके समक्ष चाक्षुष रूपमें सत्य सिद्ध करती है; रूप और रंगकी पूर्णता देखनेकी आंखोंकी कामनाको प्रश्रय देना यहां एक विशेष प्रकारके अध्यात्मतः सौंदर्यात्मक आनंदकी शक्तिके द्वारा आंतर सत्ताके लिये प्रकाशप्रद बन जाता है।

भारतीय कलाकार एक ऐसी अंतःप्रेरणाके प्रकाशमें निवास करता था जिसने इस महत्तर लक्ष्यको उसकी कलाके लिये अनिवार्य बना दिया था और उसकी पद्धति इसके मूलस्रोतोंसे उद्‌भूत होती थी तथा प्रत्येक अधिक पार्थिव, ऐंद्रिय या बाह्यतः कल्पनात्मक सौंदर्यावेगको त्यागकर इसी लक्ष्यको संपन्न करती थी। उसकी कलाके छः अंग, **षडङ्ग**, रंग और रेखा-

वाली समस्त कृतिमें सामान्य रूपसे पाये जाते हैं: वे आवश्यक मूलतत्त्व हैं और अपने मूलतत्त्वोंमें महान् कलाएं सर्वत्र एक-सी हैं; **रूपभेद**, अर्थात् आकारप्रकारमें अंतर; **प्रमाण**, अर्थात् अनुपात, रेखा और संपूर्ण आकारकी व्यवस्था, योजना, सुसंगति, परिप्रेक्षित; **भाव**, अर्थात् रूपके द्वारा व्यक्त किया हुआ हृदयगत भाव या सौंदर्यानुभूति; **लावण्य**, अर्थात् सौंदर्यभावनाकी तुष्टिके लिये सौंदर्य और आकर्षणकी खोज; **सादृश्य**, अर्थात् रूप और उसके संकेतका सत्य; **वर्णिकाभङ्ग**, अर्थात् रंगोंका क्रम, संयोग और सामंजस्य;—ये प्रथम अंग हैं। कलाकी प्रत्येक सफल कृति विश्लेषण करनेपर इन्हीं अंगोंमें परिणत हो जाती है। परंतु इन अंगोंमेंसे प्रत्येकको जो मोड़ दिया जाता है वही शिल्प-पद्धतिके लक्ष्य और प्रभावके समस्त भेदको पैदा करता है और जो अंतर्दृष्टि इनके संयोजनके कार्यमें सर्जनशील हाथका मार्गदर्शन करती है उसका उद्गम एवं स्वरूप ही सफलताके आध्यात्मिक मूल्यके समस्त भेदको उत्पन्न करता है और भारतीय चित्रकलाका अनुपम स्वरूप एवं अजंताकी कलाका विशिष्ट आकर्षण उस अद्भुततया आंतरिक, आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक मोड़से उत्पन्न होता है जो भारतीय संस्कृतिकी व्यापक प्रतिभाने कलात्मक परिकल्पना और पद्धतिको प्रदान किया था। भारतके स्थापत्य और मूर्तिशिल्पकी भांति उसकी चित्रकला भी अपने तन्मयकारी लक्ष्य एवं रूपांतरसाधक वातावरणसे, सूक्ष्म और अद्भुत रूपमें बदले हुए मनके प्रत्यक्ष या सूक्ष्म प्रभावसे तथा उस दृष्टिसे नहीं बच सकती थी जो अन्य दृष्टियोंकी तरह केवल बाहरी आंखके द्वारा नहीं बल्कि मानसिक भागों और आंतरिक दृष्टिके मनोतीत सत्ता तथा उस आत्माके साथ सतत संपर्कके द्वारा देखनेके लिये सधी हुई है जिसके लिये रूप उसकी अपनी महत्तर ज्योतिका केवल एक पारदर्शक पर्दा या फिर एक सामान्य संकेत होते हैं। इस चित्रकलाकी बाह्य सुंदरता एव ओजस्विता, आलेख्यकी महत्ता, वर्णिकाकी समृद्धता एवं सौंदर्यात्मक श्री-सुषमा इतनी प्रत्यक्ष और बलपूर्ण है कि उससे इन्कार नहीं किया जा सकता, इसकी आंतरात्मिक आकर्षणमें प्रायः ही कोई ऐसी चीज होती है जिसके प्रति प्रत्येक सुसंस्कृत और संवेदनशील मानवके मनमें एक प्रत्युत्तर जागृत होता है, और इसमें बाह्य भौतिक मानके उल्लंघन मूर्तिकलाकी अपेक्षा कम तीव्र और कम प्रबल, तथा अधिक बाह्य सौंदर्य और श्री-शोभाके प्रति कम घृणापूर्ण हैं,—जैसा कि इस कलाकी अपनी प्रकृतिके अनुसार उचित ही है। अतएव हम देखते हैं कि पश्चिमी आलोचक मनने कुछ हदतक बहुत आसानीसे इसकी विशेषताओंको समझा है और जब ठीक तरहसे नहीं समझा है तब भी इसपर अपेक्षाकृत हलके आक्षेप ही किये हैं। यहां केवल वही कोरी नासमझी नहीं है, न गलतसमझी और घृणाका आवेश ही है। और फिर भी हम यह देखते हैं कि इसके साथ-ही-साथ यहां कोई ऐसी चीज है जिसका मूल्यांकन होनेसे रह गया दीखता है अथवा जिसे केवल अधूरे तौरपर ही समझा गया है, और यह 'कोई चीज' निश्चित रूपमें वह गभीरतर आध्यात्मिक आशय है जिसके कि आंख और सौंदर्यबुद्धिके द्वारा तुरंत पकड़में आनेवाली वस्तुएं मध्यवर्ती साधनमात्र हैं। इससे

उस टिप्पणीका कारण समझमें आ जाता है जो कम सशक्त और कम शान्त ढंगकी दीखनेवाली भारतीय कृतिके बारेमें प्रायः ही की जाती है कि इसमें अंतःप्रेरणा या कल्पनाका अभाव है अथवा यह एक रूढ़िबद्ध कला है : जहां इसका मूल-भाव अपने-आपको प्रबल रूपमें स्थापित नहीं करता वहां वह दृष्टिसे ओझल हो जाता है, और जहां अभिव्यंजनामें डाली गयी शक्ति इतनी महान् और प्रत्यक्ष होती है कि उससे इन्कार किया ही नहीं जा सकता, वहां भी वह भाव पूरी तरहसे पकड़में नहीं आता। भारतीय वास्तुकला और मूर्तिकलाकी भांति भारतीय चित्रकला भी भौतिक और चैत्य दृष्टिके द्वारा एक अन्य, आध्यात्मिक दृष्टिको आकर्षित करती है जिसके द्वारा कि कलाकारने अपनी रचना की थी और जब वह हमारे अंदर सौंदर्यबुद्धिके समान ही जागृत हो जाती है तभी इसके अर्थकी पूरी गहराईमें इसका मूल्य आंका जा सकता है।

कट्टर पश्चिमी कलाकार बाह्य प्रकृतिके रूपोंकी कठोरतापूर्वक सही-सही नकल करते हुए अपना कार्य करता है; बाह्य जगत् ही उसका आदर्श नमूना होता है, और उसको इसे अपनी दृष्टिके सामने रखना पड़ता तथा इससे वस्तुतः विचलित होनेकी किसी भी प्रवृत्तिको या सूक्ष्मतर आत्माके प्रति अपनी प्रमुख निष्ठा प्रदर्शित करनेकी किसी भी चेष्टाको दबाना होता है। जब वह अपने कार्यमें ऐसी धारणाओंको ले आता है जो अधिक ठीक रूपमें किसी अन्य राज्यकी होती हैं तब भी उसकी कल्पना भौतिक प्रकृतिके ही अधीन रहती है, भौतिक जगत्का दबाव सदा ही उसके संग रहता है, और सूक्ष्मका **द्रष्टा**, मानसिक रूपोंका स्रष्टा, अंदरका **कलाकार**, बृहत्तर चैत्य स्तरोंका सुदूरदर्शी यात्री अपनी अंतःप्रेरणाओंको 'बाह्य' के **द्रष्टा**, अर्थात् पार्थिव जीवन, जड़ जगत्की रचनाओंमें व्यक्त हुए आत्मा, के नियमके अधीन करनेको बाध्य होता है। जब वह बाह्य दृष्टिको सूक्ष्मतर अंतर्दृष्टिसे पूरित करना चाहेगा तब वह अपने कार्यकी प्रणालीमें साधारणतया एक आदर्शीभूत कल्पनाप्रधान यथार्थवादतक ही जा सकता है। और जब वह इस सीमाबद्ध करनेवाले नियमसे असंतुष्ट होकर, इस घेरेसे बिलकुल बाहर निकल जाना चाहेगा तो वह उन बौद्धिक या कल्पनामय अतियोंमें भटक जानेके प्रलोभनमें फंस सकता है जो आकारोंके यथार्थ भेद, **रूपभेद**, के सार्वभौम नियमका उल्लंघन करती हैं और कोरी कल्पनाके किसी मध्यवर्ती लोकके अंतर्दर्शनसे संबंध रखती हैं। उसकी कलाने अनुपात, विन्यास और परिप्रेक्षितके एक ऐसे नियमको खोज निकाला है जो भौतिक प्रकृतिके भ्रमको सुरक्षित रखता है और वह अपनी संपूर्ण योजनाको सच्ची अनुगामिता और निष्ठापूर्ण निर्भरताके भावमें प्रकृतिकी योजनाके साथ संबद्ध कर देता है। उसकी कल्पना प्रकृतिकी ही कल्पनाओंकी सेविका या उन्हें व्यक्त करनेवाली होती है। प्रकृतिके सौंदर्यविषयक सार्वभौम नियमके निरीक्षणमें ही वह एकता और समस्वरताके अपने गुप्त रहस्यको पाता है, और उसकी आंतर सत्ता उन बाह्य आकृतियोंपर, जो प्रकृतिने अपनी सर्जनशील भावनाको प्रदान की हैं, घनिष्ठ रूपसे एकाग्र होकर प्रकृतिकी आंतर सत्तामें अपने

स्वरूपको खोजनेकी चेष्टा करती है। एक घनिष्ठतर-आंतरिक भावनाकी दिशामें वह अधिक-से-अधिक आभासवाद (Impressionism) तक ही पहुंचा है जो अभी भी प्रकृतिके आदर्श नमूनोंकी ही अपेक्षा करता है, किंतु आंतरिक इंद्रियपर उनके किसी प्रथम आभ्यंतर या मौलिक प्रभावको प्राप्त करनेका यत्न करता है, और उसके द्वारा वह किसी प्रबलतर-चैत्य अभिव्यक्तितक पहुंच जाता है, पर वह पूर्वी कलाकारकी स्वतंत्रतर शैलीके अनुसार पूर्णरूपेण अंदरसे बाहरकी ओर कार्य नहीं करता। उसका भावावेग एवं कलात्मक बोध दोनों इसी रूपके अंदर विचरण करते हैं और कलासंबंधी इसी रीतिकी सीमामें बंधे होते हैं; वे शुद्ध आध्यात्मिक या आंतरात्मिक भावावेग नहीं होते बल्कि प्रायः ही वे एक कल्पनामूलक उच्च भाव होते हैं जो जीवन तथा बाह्य पदार्थोंके संकेतोंसे उत्पन्न होता है और जिसमें चैत्य तत्त्व, या आध्यात्मिक वेदनका प्राकट्य बाह्यके स्पर्शके द्वारा ही आरंभ होता और अधिकृत रहता है। जो मोहकता वह प्रदान करता है वह उस सौंदर्यका उदात्त रूप होती है जो बाह्य ऐंद्रिय आकर्षणके आधारपर कार्य करनेवाली भावना और कल्पनाकी शक्तिके द्वारा बाह्य इंद्रियोंको आकर्षित करता है और दूसरे प्रकारका सौंदर्य तो साहचर्यके द्वारा ही उस ढांचेके अंदर लाया जाता है। सादृश्यका वह सत्य जिसपर वह निर्भर करता है भौतिक प्रकृतिकी रचनाओं और उनके बौद्धिक, भाविक एवं सौंदर्यात्मक अर्थोंके साथ साम्य ही है, और उसके रेखाके कार्य तथा रंगकी लहरका प्रयोजन इस अंतर्दृष्टिके प्रवाहको मूर्त्त रूप देना होता है। इस कलाकी पद्धति सदैव दृश्य जगत्से कुछ आहरण कर उसका अनुकरण करनेकी ही होती है जिसमें केवल ऐसा आवश्यक परिवर्तन ही किया जाता है जिसे सौंदर्यप्रिय मन अपनी साधन-सामग्रीपर बलपूर्वक थोपता है। उस आत्माके, जिसने वस्तुओंमें प्रवेश करके अपने-आपको उनके रूपोंके अधीन कर दिया है, **प्रविश्य यः प्रतिरूपो बभूव**, किसी परोक्ष स्पर्शके द्वारा मनको गभीरतर वस्तुओंके साथ एकाकार करके उसके सामने, कम-से-कम, जीवन और प्रकृतिका चित्रण करना और, अधिक-से-अधिक, इनकी व्याख्या करना——यही इस कलाका नियामक सिद्धांत है।[1]

भारतीय कलाकार जीवन और आत्माको जोड़नेवाले अनुभवसंबंधी मूल्योंके मापदंडके दूसरे छोरसे आरंभ करता है। यहां समस्त सर्जन-शक्ति आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक दृष्टिसे प्राप्त होती है, भौतिक दृष्टिका दबाव गौण होता है और उसे सदा ही जान-बूझकर हलका कर दिया जाता है ताकि एक अत्यंत प्रबल कोटिकी आध्यात्मिक एवं आंतरात्मिक छाप डाल दी जा सके, और ऐसी हरेक चीजको दबा दिया जाता है जो इस उद्देश्यको सिद्ध नहीं करती या जो मनको इस उद्देश्यकी पवित्रतासे विचलित करती है। यह चित्रकारी

---

[1]यह सब कथन यूरोपीय कलाकी हालकी अधिकांश मुख्यतर प्रगतियोंके संबंधमें अब सत्य नहीं रहा।

अंतरात्माको जीवनके द्वारा व्यक्त करती है, परंतु जीवन तो आध्यात्मिक अभिव्यक्तिका एक साधनमात्र है, और इसका बाह्य चित्रण प्रथम उद्देश्य या प्रत्यक्ष हेतु नहीं है। एक यथार्थ, अत्यंत स्पष्ट और प्राणवंत चित्रण भी यहां है तो सही, पर वह बाह्य भौतिकको अपेक्षा कहीं अधिक आभ्यंतर चैत्य जीवनका ही है। एक सुविख्यात आलोचक एक प्रसिद्ध जापानी चित्र-पर भारतीय प्रभावकी चर्चा करते हुए अजंताके भित्तिचित्रोंकी याद दिलानेवाली गहराईके साथ अंकित इसकी भव्य आकृतियों और जीवन तथा स्वभावके प्रति होनेवाले संवेदनको इसके भारतीयपनका चिह्न मानते हैं: परंतु हमें इस जीवन-संबंधी संवेदनाके स्वरूप तथा आकृतियोंके इस गहरे अंकनके मूल कारण और उद्देश्यपर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालनी होगी। यहां जीवन और चरित्रके लिये जो संवेदना है वह किसी इटैलियन चित्र, माइकेल ऐंजेलो (Michael Angelo) के हाथके भित्ति-चित्र अथवा तितिअन या तिंतोरेत्तो (Titian or Tintoretto) की बनायी हुई मानव-प्रतिकृतिमें पायी जानेवाली महत् और प्रचुर प्राणवत्तासे तथा स्वभावकी शक्ति-सामर्थ्यसे अत्यंत भिन्न वस्तु है। चित्रकलाका प्रथम और आदिम लक्ष्य है जीवन और प्रकृतिका चित्रण करना और अपने निम्नतम रूपमें यह एक न्यूनाधिक ओजस्वी और मौलिक या रूढ़िकी दृष्टिसे एक सच्चा चित्र बन जाता है। परंतु महान् कलाकारोंके हाथों यह ऊंचा उठकर जीवनके ऐंद्रिय आकर्षणकी महत्ता और सुन्दरताका या स्वभाव, भावावेग और कर्मकी आश्चर्यजनक शक्ति और प्रेरक ध्येयका अभिव्यंजन बन जाता है। यूरोपमें सौंदर्यात्मक कृतिका सामान्य रूप यही है: किंतु भारतीय कलामें यह हेतु कभी सर्वोपरि नहीं होता। ऐंद्रिय आकर्षण भी वहां है सही, पर वह उस चैत्य श्री-सुषमा और सुन्दरताकी आत्माकी समृद्धताके मुख्य नहीं बल्कि मात्र एक तत्त्वके रूप में परिमार्जित कर दिया गया है जो भारतीय कलाकारके लिये सच्ची सुंदरता, **लावण्य**, है: नाटकीय हेतुको इसके अधीन रखकर केवल एक निरा गौण तत्त्व बना दिया जाता है, स्वभाव और कर्मका केवल उतना ही अंश चित्रित किया जाता है जितना गभीरतर आध्यात्मिक या आंतरात्मिक **भाव**को प्रकट करनेमें सहायक हो, और इन वस्तुओंकी, जो अधिक बाह्य रूपमें सक्रिय होती हैं, समस्त आग्रह-परायणता या अत्यंत सुस्पष्ट बलशालितासे बचा जाता है, क्योंकि वह आध्यात्मिक भावावेगको अत्यधिक बाह्य रूप दे देगी और जिस स्थूलतर तीव्रताको भावावेग सक्रिय बाह्य प्रकृतिका दबाव पड़नेपर ओढ़ लेता है उसके हस्तक्षेपके द्वारा उसकी तीव्र शुद्धताको कम कर देगी। इसमें चित्रित किया गया जीवन अंतरात्माका जीवन है न कि प्राण-सत्ता और शरीरका जीवन, हां, वह एक आकार और सहायक संकेतके रूपमें वहां विद्यमान अवश्य है। क्योंकि, कलाका दूसरा उच्चतर लक्ष्य है जीवन और प्रकृतिके रूपोंके द्वारा सत्ताकी व्याख्या या बोधिमूलक अभिव्यक्ति करना और यही भारतीय आशयका आरंभ-बिंदु है। परंतु व्याख्या भौतिक प्रकृतिके द्वारा पहलेसे दिये हुए रूपोंके आधारपर ही अग्रसर हो सकती है और उन रूपोंके द्वारा वह आत्माके उस विचार एवं सत्यको प्रकट करनेका यत्न कर सकती

है जो आत्मासे ही एक संकेतके रूपमें उद्भूत होता है और आश्रयके लिये उसीकी ओर मुड़ता है, और तब रूपको जैसा कि वह स्थूल आंखको दीखता है उस सत्यके साथ संबद्ध करनेका यत्न किया जाता है जिसे वह बाह्य आकारके द्वारा थोपी गयी सीमाओंको लांघे बिना प्रकट करता है। पश्चिमी कलाकी सामान्य पद्धति यही है; वह (कला) सदा प्रकृति-के प्रति प्रत्यक्ष रूपमें सच्ची रहनेके लिये आतुर रहती है जो कि सच्चे सादृश्यके संबंधमें उसकी धारणा है, परंतु भारतीय कलाकार इस पद्धतिका परित्याग कर देता है। वह अंदर-से आरंभ करता है, वह जिस चीजकी अभिव्यक्ति या व्याख्या करना चाहता है उसे अपनी अंतरात्मामें देखता है और अपने अंतर्ज्ञानकी यथार्थ रेखा, वर्णिका और योजनाको खोजनेकी चेष्टा करता है; और वह रेखा आदि जब भौतिक धरातलपर प्रकट होती है तो वह भौतिक प्रकृतिकी रेखा, वर्णिका और योजनाकी यथार्थ और स्मारक प्रतिकृति नहीं होती, वरन् उससे कहीं अधिक एक ऐसी चीज होती है जो हमें प्राकृतिक आकारका चैत्य रूपांतर प्रतीत होती है। वास्तवमें, जिन आकारोंको वह चित्रित करता है वे पदार्थोंके ऐसे रूप होते हैं जिन्हें वह चैत्य स्तरमें अनुभव कर चुका होता है: ये आत्मिक आकार होते हैं जिनका भौतिक वस्तुएं एक स्थूल प्रतिरूप हैं और इनकी शुद्धता एवं सूक्ष्मता उस चीजको तुरंत प्रकाशमें ले आती है जिसे भौतिक वस्तु अपने आवरणोंकी स्थूलतासे ढक देती है। यहां जिन रेखाओं और रंगोंकी खोज की जाती है वे चैत्य रेखाएं और चैत्य रंग हैं जो कलाकारके उस अंतर्दर्शनकी अपनी चीजें हैं जिसे पानेके लिये वह अपने भीतर गया होता है।

इस कलाका संपूर्ण नियामक तत्त्व यही है और यही भारतीय चित्रकलाके हरेक ब्योरेपर अपनी छाप लगाता है और कलाकारद्वारा किये जानेवाले छः शास्त्रीय अंगों (षडङ्ग)के प्रयोगको बिलकुल बदल डालता है। रूपोंके भेदका सच्चाईके साथ अनुसरण किया जाता है, पर इस अर्थमें नहीं कि जिस जगत्में हम रहते हैं उसकी बाह्य आकृतियोंकी सच्ची प्रति-कृति उतारनेके उद्देश्यसे स्थूल रूपके प्रति यथार्थ प्रकृतिवादी निष्ठा प्रदर्शित की जाय। किसी ऐसी चीजको जिसे हमारी आंखें किसी विशेष स्थानपर देख चुकी हैं या देख सकती थीं, अर्थात् किसी दृश्यको, किसी देशके आभ्यंतर भाग किंवा किसी जीवंत और सप्राण व्यक्तिको सच्चाईके साथ स्मृतिमें लाकर मनको उसकी सौंदर्यात्मक अनुभूति और भावोत्तेजना प्रदान करना इसका उद्देश्य नहीं है। इसमें एक असाधारण सजीवता, स्वाभाविकता एवं वास्त-विकता है, पर वह भौतिक वास्तविकतासे अधिक कुछ है, ऐसी वास्तविकता है जिसे अंत-रात्मा तुरंत यों पहचान लेती है कि यह उसके अपने क्षेत्रकी है, इसमें चैत्य सत्यकी एक जीवंत स्वाभाविकता एवं रूपकी निश्चयोत्पादक भावना है जिसकी साक्षी देती है अंतरात्मा न कि रूपकी वह बाह्य स्वाभाविकता, जिसकी गवाही स्थूल आंख देती है। इसमें सत्य, अर्थात् यथार्थ साम्य है, सारूप्य, **सादृश्य** है, पर वह रूपके सारतत्त्वका सत्य है, अंतरात्माका अपने-आपसे साम्य है, अर्थात् उस सूक्ष्म देहकी प्रतिकृति है जो स्थूल देहका आधार

है, पदार्थका वह अधिक शुद्ध और परिष्कृत शरीर है जो उसकी अपनी मूल प्रकृति, **स्वभाव**, की वास्तविक अभिव्यक्ति है। जिस साधनके द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न किया जाता है वह भारतीय मनकी अंतर्मुख दृष्टिका अपना विशिष्ट गुण है। यह शुद्ध और सबल रेखा-चित्रपर साहसपूर्ण और दृढ़ आग्रह करके और ऐसी हरेक चीजको पूर्ण रूपसे दबाकर उत्पन्न किया जाता है जो इसके उभारमें तथा इसकी सबलता और शुद्धतामें हस्तक्षेप करती हो अथवा रेखाके प्रखर अर्थको धुंधला और हलका करती हो। मानव आकृतिके चित्रणमें मांसपेशियों तथा शरीर-संस्थान-संबंधी ब्योरेपर बल देकर रेखा-चित्रका जो सारा दैहिक भराव किया जाता है उसे कम-से-कम कर दिया जाता है या फिर उसकी उपेक्षा ही की जाती है: केवल उन सबल सूक्ष्म रेखाओं और शुद्ध आकारोंको ही उभारा जाता है जो मानव रूपकी मानवीयताका निर्माण करती हैं; सारी ही सारभूत मानव सत्ता वहां होती है, अर्थात् वहां वह दिव्यता होती है जिसने आंखके लिये आत्माका यह वेश धारण किया है, परंतु वह अनावश्यक भौतिकता वहां नहीं होती जिसे वह अपने बोझके तौरपर अपने साथ वहन किये हुए है। पुरुष और स्त्रीकी श्रेष्ठ चैत्य आकृति एवं देह ही अपनी मोहक छवि और सुषमामें हमारे सामने होती है। रेखा-चित्रका भराव और ही तरीकेसे किया जाता है; वह शुद्ध सामग्रीके विन्यास, देहकी रूप-रेखा और उसकी रंगीन, लहर-सी रेखाओंके बहाव, **भङ्ग**, तथा वस्तुओंकी उस सरलताके द्वारा किया जाता है जो कलाकारको इस बातके लिये समर्थ बनाती है कि वह संपूर्ण चित्रको उस एक ही आध्यात्मिक भावावेग, अनुभूति और संकेतके गूढार्थसे जिसे वह द्योतित करना चाहता है, अंतरात्माके एक क्षण-विशेष, अर्थात् इसके एक जीवंत स्वानुभव, के संबंधमें अपने अंतर्ज्ञानसे परिप्लुत कर सके। इन सबका विन्यास इस प्रकार किया जाता है कि ये इसी चीजको और केवल इसीको व्यक्त करें। आंतरात्मिक संकेतको प्रकट करनेके लिये हाथोंकी मुद्राका अद्भुतप्राय, सूक्ष्म और अर्थपूर्ण प्रयोग भारतीय चित्रोंका एक सर्वसामान्य और सुप्रसिद्ध लक्षण है और हाथोंकी यह भाव-मुद्रा चेहरे और आंखोंके संकेतको जिस ढंगसे सूक्ष्मता-पूर्वक दोहराती या परिपूर्ण बनाती है वह सदा ही एक अन्यतम प्रमुख वस्तु होता है जो दृष्टिको आकर्षित करती है। परंतु जैसे ही हम उसपर एकटक दृष्टि जमाते हैं वैसे ही हम देखते हैं कि शरीरका प्रत्येक मोड़, प्रत्येक अंगकी भावभंगिमा, सभी पदार्थोंका संबंध और रूप-विधान उसी एक चैत्य भावसे परिपूर्ण हैं। अधिक महत्त्वपूर्ण सहायक-वस्तुएं एक सजातीय संकेतके द्वारा उसमें सहायक होती हैं अथवा मूलोद्देश्यके पोषण या वैविध्य या विस्तार या उभारके द्वारा उसे प्रकाशमें लाती हैं। पशुओंके आकारों, इमारतों, पेड़ों और पदार्थोंके संबंधमें भी अर्थपूर्ण रेखाके तथा विक्षेपकारी ब्योरेको दबानेके उसी नियमका प्रयोग किया जाता है। इस समस्त चित्रकलामें परिकल्पना, पद्धति और अभिव्यंजनाका एक अंतःप्रेरित सामंजस्य है। रंगका प्रयोग भी आध्यात्मिक और आंतरात्मिक उद्देश्यके साधनके रूपमें ही किया जाता है, और यदि हम

किसी अतिलघु बौद्ध चित्रके रंगोंके सांकेतिक अर्थका अध्ययन करें तो हम इस बातको भली-भांति देख सकते हैं। व्यंजक रेखा-चित्रोंके भरावमें रेखाकी यह शक्ति और चैत्य संकेतकी सूक्ष्मता ही महानता और हृदयग्राही सुषमाके उस अद्‌भुत ऐक्यका स्रोत है जो अजंताकी संपूर्ण रचनाकी छाप है और जो राजपूत-चित्रकलामें भी कायम है, यद्यपि वहां कमनीयतामें प्राचीनतर कृतिकी उच्चता खो गयी है और उसका स्थान जीवंत और सांकेतिक रेखाकी एक ऐसी शक्तिने ले लिया है जो सूक्ष्म रूपसे तीव्र है किंतु फिर भी अत्यंत स्पष्ट और निश्चयात्मक है। यही सर्वसामान्य भावना और परंपरा भारतकी समस्त सच्ची स्वदेशीय रचनाका चिह्न है।

जब हम किसी भारतीय चित्रको देखें तो इन चीजोंको हमें सावधानीके साथ समझ लेना और मनमें रखना होगा तथा उसकी निंदा या प्रशंसा करनेके पूर्व हमें पहले उसके वास्तविक मूल-भावको हृदयंगम कर लेना होगा। उसके अंदरकी उस चीजपर जो कलामात्रमें सामान्य रूपसे पायी जाती है, अपने-आपको एकाग्र करना भी ठीक है, परंतु उसका वास्तविक सार तो वही है जो भारतकी अपनी निराली चीज है। और फिर वहां शिल्प-कौशल और धार्मिक भावकी उमंगकी सराहना करना ही काफी नहीं; यदि हम कलाकारके संपूर्ण उद्देश्यसे अपने-आपको तदाकार करना चाहें तो हमें उस आध्यात्मिक आशयको अनुभव करना होगा जिसे प्रकट करनेमें शिल्प-कौशल सहायता करता है, रेखा और रंगके चैत्य अर्थको तथा उस महत्तर वस्तुको अनुभव करना होगा जिसका कि धार्मिक भावावेग एक परिणाम है। उदाहरणार्थ, यदि हम बुद्धके सामने भक्तिभावसे बैठे हुए मां और बच्चेके चित्रको, जो अजंताकी अत्यंत गंभीर, सुकुमार और उत्कृष्ट मुख्य-कृतियोंमेंसे एक है, देरतक देखते रहें तो हम पायेंगे कि वहां भक्तिके प्रगाढ़ धार्मिक भावकी जो छाप है वह भावावेगके समग्र प्रभावमें केवल एक अत्यंत बाह्य सामान्य स्पर्श ही है। यह छाप गहरी होकर जो चीज बन जाती है वह मानवताकी अंतरात्माका प्रेमके साथ उस दयामय और शांत अनिर्वचनीय-सत्ताकी ओर मुड़ना है जिसने बुद्धकी सार्वजनीन करुणाके रूपमें अपने-आपको हमारे प्रति गोचर और मानवाकार बनाया है, और वह चित्र आंतरात्मिक-क्षणके जिस मूलोद्देश्यकी व्याख्या करता है वह बालकके, भावी युवा मानवके, जागते हुए मनका उस चीजके प्रति आत्म-दान है जिसमें माताकी अंतरात्मा अपने आध्यात्मिक हर्षको पाना और स्थिर रखना पहले ही सीख चुकी है। स्त्रीकी आंखें, भौंहें, होंठ, चेहरा, मस्तककी भाव-मुद्रा इस आध्यात्मिक भावावेगसे परिपूर्ण हैं जो चैत्य मुक्तिकी, अवर्णनीय कोमलतासे पूरित हृदयानुभवकी स्थिर सुप्रतिष्ठ शांतिकी, उन परिचित गहराइयोंकी जो अभीतक आश्चर्यसे तथा किसी अनंत वस्तुके सदा और आगेके आकर्षणसे स्पंदित हैं, एक सतत स्मृति और प्राप्ति है, शरीर तथा अन्य अंग इस भावावेगकी गुरु-गंभीर सामग्री हैं और अपनी भाव-भंगिमामें वे इसका एक आधारस्वरूप प्रकाश हैं, जब कि हाथ, सनातनसे मिलनेके लिये अपने

बच्चेको आत्मदानके भावमें अर्पित करते हुए, इसी भावको विस्तृत करते हैं। मानव और सनातनका यह संस्पर्श छोटेसे बालकके चित्रमें सूक्ष्म और प्रबल रूपसे प्रदर्शित विविधता, तथा जागरणकी उस प्रसन्न और बालसुलभ मुसकानके साथ दुहराया गया है जो प्राप्त होने-वाली गहराइयोंकी आशा तो बंधाती है पर अभी उन्हें प्राप्त कर लेनेकी अवस्थाको नहीं सूचित करती, हाथ ग्रहण करने और बनाये रखनेके लिये इच्छुक हैं, शरीर अपनी शिथिलतर और लहर-सी वक्र रेखाओंमें उस अर्थके साथ ताल मिला रहा है। दोनों अपने-आपको भूले हुए हैं और जिसका वे आराधन एवं चिंतन कर रहे हैं उसमें एक दूसरेको लगभग भूले हुए या मिलाये-जुलाये हुए-से जान पड़ते हैं, और फिर भी पूजा चढ़ाते हुए हाथ मां और बच्चेको उनकी मातृ-स्वत्व और आत्म-दानकी एककालीन भावमुद्राके द्वारा एक ही क्रिया और अनु-भूतिमें संयुक्त कर देते हैं। दोनों आकृतियोंमें प्रत्येक स्थलपर एक ही गतिच्छंद है, पर तो भी उसमें एक अर्थपूर्ण भेद है। महानता और शक्तिशालितामें विद्यमान सरलता, एवं संयम, समाहरण और केंद्रीभावके द्वारा साधित भावाभिव्यक्तिकी पूर्णता जिसे हम यहां पाते हैं भारतकी प्राचीन उत्कृष्ट कलाकी सर्वांगपूर्ण पद्धति है। और इस पूर्णताके द्वारा बौद्ध कला केवल बौद्ध धर्मका चित्रण और इसके विचार तथा धार्मिक भाव, इतिहास और उपाख्यानकी अभिव्यक्ति ही नहीं बनी बल्कि भारतकी अंतरात्माके लिये बौद्ध धर्मके आध्यात्मिक आशय और इसके गंभीरतर अर्थकी सत्योद्भासक व्याख्या भी बन गयी।

हमें सदा सबसे पहले और प्रधान रूपमें इस प्रकारके गंभीरतर आशयकी खोज करनी चाहिये, इसको समझनेसे जीवनके मूलोद्देश्योंके पाश्चात्य और भारतीय विवेचनके भेद समझमें आ जायंगे। इस प्रकार किसी महान् यूरोपीय चित्रकारकी बनायी हुई मानव-प्रतिकृति चरित्र-के द्वारा, सक्रिय गुणों, प्रधान शक्तियों और आवेगों, मुख्यतम भाव और स्वभाव तथा क्रियाशील मानसिक और प्राणिक सत्ताके द्वारा सर्वोपरि बलके साथ अंतरात्माको प्रकट करेगी : भार-तीय कलाकार बहिर्मुख क्रियाशील चिह्नोंको हलका कर देता है और उनके केवल उतने ही अंशको प्रकट करता है जो कि किसी ऐसी वस्तुको व्यक्त या लयबद्ध करनेमें सहायक हो जो कहीं अधिक सूक्ष्म अंतरात्माके स्वभावकी ही हो, कोई अधिक स्थितिशील एवं निर्व्यक्तिक वस्तु हो जिसका कि हमारा व्यक्तित्व आवरण भी है और सूचक भी। आत्माका एक क्षण-विशेष ही जो एक अत्यंत सूक्ष्म आत्मिक गुणकी नित्यताको शुद्धताके साथ प्रकट करता है सर्वोच्च प्रकारकी भारतीय मानवप्रतिकृति है। और, अधिक सामान्य रूपमें, चित्रगत चरित्रसे उद्बुद्ध अनुभूति जिसका हम अजंताकी रचनाकी एक विशेषताके रूपमें उल्लेख कर आये हैं, इसी प्रकारकी वस्तु है उदाहरणार्थ, एक भारतीय चित्र जो किसी अर्थपूर्ण घटना-पर केंद्रित एक धार्मिक भावको प्रकट करता है, प्रत्येक आकृतिमें इस प्रकारकी विविध अभि-व्यंजना दिखलायगा कि वह भावावेगके सार्वभौम आध्यात्मिक सारतत्त्वको प्रकाशमें लाये जिसमें अंतरात्माके मूल प्रकारों, अर्थात् एक ही समुद्रकी विभिन्न लहरोंके अनुसार यत्किंचित्

परिवर्तन किया गया हो, नाटकीय आग्रहकी समस्त जटिलता त्याग दी जाती है, और वैयक्तिक अनुभूतिमें चरित्रपर केवल उतना ही बल दिया जाता है जिससे कि मूल भावावेगकी एकता-को क्षीण किये बिना विविधताको प्रकट किया जा सके। इन चित्रोंमें जीवनकी जो स्पष्टता है उसके कारण वह अधिक गंभीर प्रयोजन हमारी दृष्टिसे ओझल नहीं हो जाना चाहिये जिसका यह बाह्य परिवेश है, और परवर्ती कलापर दृष्टिपात करते हुए हमें यह बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखनी होगी क्योंकि उसमें प्राचीन उच्चकोटिक रचनाकी महानता नहीं है और वह एक ऐसी निम्न श्रेणीमें जा पहुंची है जो कम गंभीर है तथा जिसकी उच्चता बराबर एकसमान कायम नहीं रहती, वह रसमय भावावेश, जीवनकी हलचलकी सूक्ष्म विशदता, और सर्वसाधारणके अधिक सीधे-सादे भावोंके स्तरपर उतर आयी है। कभी-कभी हम ऐसा पाते हैं कि अंतःप्रेरणा, विचार और भावकी निश्चयात्मक शक्ति, सर्जनशील कल्पना-की मौलिकता इस परवर्ती कलाके हिस्सेमें नहीं आयी है; परंतु अजंताकी कलासे इसका वास्तविक भेद केवल यह है कि जीवनकी गति-विधि और अंतरतम हेतुके बीचका चैत्य संक्रमण कम शक्ति और स्पष्टताके साथ प्रस्तुत किया गया है: वहां चैत्य विचार और भाव एक गतिके रूपमें बाहरकी ओर अधिक उंडेले हुए हैं, अंतरात्माके अंदर अपेक्षाकृत कम निहित हैं, फिर भी आंतरात्मिक हेतु केवल विद्यमान ही नहीं है बल्कि वह सच्चे वायुमण्डलका निर्माण करता है और यदि हम उसे न अनुभव करें तो चित्रका वास्तविक तात्पर्य भी हमारी पकड़में नहीं आता। जहां अंतःप्रेरणा धार्मिक है वहां यह चीज अधिक स्पष्ट है, परंतु लौकिक विषयमें भी इसका अभाव नहीं है। यहां भी आध्यात्मिक आशय किंवा चैत्य संकेत सर्वाधिक महत्त्वकी वस्तुएं हैं। अजंताकी कृतिमें तो सारा महत्त्व इन्हीं चीजोंका है और वहां इनकी जरा भी उपेक्षा करना व्याख्याकी भयानक भूलोंके लिये रास्ता खोलना है। इस प्रकार, एक अतीव योग्य और अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण आलोचक बुद्धके 'महाभिनिष्क्रमण' के चित्रकी चर्चा करते हुए ठीक ही कहते हैं कि यह महान् कृति दुःख और गभीर करुणाके भावकी अभिव्यक्तिमें अपना सानी नहीं रखती, परंतु फिर उस चीजकी तलाश करते हुए जिसे पश्चिमी कलाकारकी कल्पना ऐसे विषयमें स्वभावतः ही डालेगी, वे आगे चलकर यह कहते हैं कि इसमें विषादपूर्ण निर्णयका एक बोझ नजर आता है, भावी सुखमें निहित आशा-के भावके साथ गुंथे हुए आनंदके जीवनको त्यागनेकी कटुता झलकती है, और यह उस मूल-भावको जिसके साथ कि भारतीय मन नश्वरसे अविनाशीकी ओर मुड़ता है, विशेष रूपसे गलत समझना है, कलाविषयक भारतीय हेतुको समझनेमें भूल करना और आध्यात्मिक भावा-वेगके स्थानपर प्राणिक भावको ला बैठाना है। बुद्धके नेत्रों और ओष्ठोंमें जो भाव घने रूपमें विद्यमान है वह उनका अपना व्यक्तिगत दुःख बिलकुल ही नहीं है बल्कि वह अन्य सबका दुःख है, अपने प्रति भावुकतापूर्ण करुणा नहीं बल्कि जगत्‌के लिये तीव्र करुणा है, पारिवारिक आनंदके जीवनके लिये परिताप नहीं बल्कि मानवीय सुखके मिथ्यात्वकी वेदना-

पूर्ण अनुभूति है, और वहां जो उत्कंठा दृष्टिगोचर होती है वह, निश्चय ही, भावी पार्थिव सुखके लिये नहीं बल्कि निस्तारके आध्यात्मिक मार्गके लिये है, वहां एक पीड़ाकुल जिज्ञासा है जिसका समाधान निर्वाणके सच्चे आनंदमें ही हुआ, पर हां, पीछे अवस्थित आत्माने यह समाधान पहलेसे ही देख लिया था और इसीलिये वहां अपरिमेय शांति और संयम देखनेमें आते हैं जो दुःखको अवलंब देते हैं। दोनों प्रकारकी कल्पनाओंमें, यूरोपकी कलाके मानसिक, प्राणिक और भौतिक झुकाव और भारतकी कलाके सूक्ष्म, कम प्रबल रूपमें गोचर आध्यात्मिक झुकावमें जितना भी भेद है वह सारेका सारा इस उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है।

यही भारतकी स्वदेशीय कला है जिसकी यही अविच्छिन्न भावना एवं परंपरा है, और यह संदेहका विषय रहा है कि आया मुगल चित्र इस नामके अधिकारी हैं तथा इस परंपरासे किसी प्रकारका संबंध रखते हैं और क्या, अधिक ठीक रूपमें, वे फारससे आयी हुई विदेशीय वस्तु तो नहीं हैं। लगभग समस्त पूर्वीय कला इस बातमें एक जैसी है कि स्थूल दृष्टिके भीतर चैत्य प्रविष्ट हो जाता है और, अधिकांशमें, उसपर अपना सूक्ष्मतर नियम लागू करता है और चैत्य रेखा तथा चैत्य अर्थ उसे एक विशिष्ट मोड़ देते हैं, ये ही उसकी सजावटकी कलाका रहस्य हैं तथा उच्चतर कलाके प्रधान उद्देश्यका निर्देशन करते हैं। परंतु फारस और भारतके चैत्य-तत्त्व (Psychicality) में एक भेद है; फारसके चैत्यतत्त्वमें मध्यवर्ती लोकोंके जादूका सौरभ विद्यमान है और भारतका चैत्य आध्यात्मिक दृष्टिके संचारणका केवल एक साधन है। और, स्पष्ट ही, भारत-फारसी शैली पहले प्रकारकी है तथा भारतके लिये स्वदेशीय नहीं है। परंतु मुगल कला कोई विदेशीय वस्तु नहीं है; उसमें बल्कि दो मनोवृत्तियोंका संमिश्रण है: एक ओर तो एक प्रकारके प्रत्यक्षवादकी ओर झुकाव है जो पश्चिमी प्रकृतिवादके सर्वथा समान नहीं है, साथ ही एक लौकिक भावना तथा कुछेक प्रमुख तत्त्व भी हैं जो व्याख्यात्मक होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल रूपमें चित्रणात्मक हैं, किंतु फिर भी केंद्रीय वस्तु एक रूपांतरकारी स्पर्शका प्राधान्य ही है जो यह दिखाता है कि स्थापत्यकी भांति यहां भी भारतीय मनने एक अन्य ही अभिभूतकारी मानसिकताको अपने अधिकारमें कर रखा है और उसे एक अधिक बहिर्मुखी स्व-अभिव्यंजनाका सहायक साधन बना लिया है। वह अभिव्यंजना उस उपलब्धिकी आध्यात्मिक श्रृंखलामें एक नयी अवांतर प्रवृत्तिके रूपमें प्रकट होती है जो प्रागैतिहासिक युगमें आरंभ हुई थी और भारतीय संस्कृतिके व्यापक ह्रासके समय ही समाप्त हो गयी। चित्रकारी जो उस ह्रासके समय गर्तमें पतित होनेवाली कलाओंमें अंतिम थी, फिरसे उठने और नवसृजनके युगकी उषा-रश्मियोंको उद्भासित करनेमें भी प्रथम रही है।

भारतकी साज-सज्जा-संबंधी कलाओं और शिल्पोंकी विस्तारपूर्वक चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनकी श्रेष्ठता सदा ही निर्विवाद रूपसे स्वीकार की जाती रही है। जिस व्यापक सौंदर्य-भावनाको वे द्योतित करते हैं वह राष्ट्रीय संस्कृतिकी मूल्यवत्ता और

स्वस्थताके बड़े-से-बड़े संभव प्रमाणोंमें से एक है। इस विषयमें भारतीय संस्कृतिको किसी भी तुलनासे डरनेकी जरूरत नहीं : यदि वह जापानकी संस्कृतिसे मुख्यतः कम कलात्मक है तो इसका कारण यह है कि उसने आध्यात्मिक आवश्यकताको सर्वप्रमुख स्थान दिया है तथा अन्य सभी चीजोंको लोगोंकी आध्यात्मिक प्रगतिके अधीनस्थ एवं उसका साधन बना रखा है। उसकी सभ्यताने मनके सभी विषयोंकी भांति तीन महान् कलाओंमें भी प्रथम पंक्तिमें स्थित होकर यह सिद्ध कर दिया है कि आध्यात्मिक आवेग अन्य प्रवृत्तियोंको पंगु बनानेवाला नहीं है, जैसी कि व्यर्थ ही कल्पना की गयी है, बल्कि वह समग्र मानवके बहु-मुखी विकासके लिये एक अत्यंत प्रबल शक्ति है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

दसवां अध्याय

भारतीय साहित्य

जो कलाएं आंखके द्वारा अंतरात्माको आकर्षित करती हैं वे ही किसी जातिकी भावना और सौंदर्य-वृत्ति तथा उसके सर्जनशील मनकी विशेष घनीभूत अभिव्यक्तिपर पहुंच सकती हैं, परंतु उसकी अत्यंत नमनशील और बहुमुखी आत्म-अभिव्यक्तिकी खोज तो उसके साहित्यमें ही करनी होगी, क्योंकि स्पष्ट अलंकारकी अपनी समस्त शक्ति या ध्वनिके अपने समस्त सूत्रोंके साथ प्रयुक्त किया गया शब्द ही अभिव्यक्त आंतर आत्माके विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों और बहुल अर्थोंको अत्यंत सूक्ष्म और विविध रूपमें हमारे सामने प्रकट करता है। किसी साहित्यकी महानता सर्वप्रथम उसकी विषयवस्तुके मूल्य एवं महत्त्वमें और उसके विचारकी उपयोगिता तथा आकारोंके सौंदर्यमें निहित रहती है, पर साथ ही इस बातमें भी कि वह वाणीकी कलाकी ऊंचीसे ऊंची शर्तोंको पूरा करता हुआ किसी जाति, युग एवं संस्कृतिके आत्मा और जीवनको या उसके जीवंत और आदर्श मनको उसकी किन्हीं महत्तम या अत्यंत संवेदनशील प्रतिनिधि-आत्माओंकी प्रतिभाके द्वारा प्रकट और उन्नत करनेमें किस हदतक सहायक होता है। और यदि कोई प्रश्न करे कि इन दोनों बातोंमें भारतीय मानसकी, जैसा कि वह संस्कृत तथा अन्य साहित्योंमें हमतक परंपराद्वारा पहुंचा है, उपलब्धि क्या है तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कम-से-कम यहां एक ऐसे विचारकके लिये भी जो जीवन और चरित्रपर पड़नेवाले इस संस्कृतिके प्रभावके विषयमें विवाद करनेपर एकदम तुला हुआ है, किसी प्रकारकी युक्तिसंगत निंदा और निषेध करनेकी गुंजायश नहीं है। संस्कृतभाषाकी प्राचीन एवं उच्चकोटिक रचनाएं अपने गुण, तथा उत्कर्षके स्वरूप एवं बाहुल्य दोनोंमें, शक्तिशाली मौलिकता, ओजस्विता और सुन्दरतामें, अपने सारतत्त्व, कौशल और गठनमें, वाक्-शक्तिके वैभव, औचित्य और आकर्षणमें तथा अपनी भावनाके क्षेत्रकी उच्चता और विशालतामें अत्यंत स्पष्टतः ही विश्वके महान् साहित्योंके बीच अग्रपंक्तिमें प्रतिष्ठित हैं। निर्णय देने योग्य व्यक्तियोंने सर्वत्र ही यह स्वीकार किया है कि स्वयं संस्कृत भाषा भी

मानव मनके द्वारा विकसित किये हुए अत्यंत महान्, अत्यंत पूर्ण और अद्भुत रूपसे समर्थ साहित्यिक साधनोंमेंसे एक है जो एक साथ ही भव्य, मधुर एवं नमनीय है, ओजस्वी, व्युत्पन्न, समृद्ध, स्पंदनशील एवं सूक्ष्म भी है, और इसका गुण एवं स्वरूप, अपने-आपमें, इस बातका पर्याप्त प्रमाण होना चाहिये कि जिस जातिके मानसको इसने व्यक्त किया है एवं जिस संस्कृतिको प्रतिबिम्बित करनेके लिये इसने एक माध्यमका काम किया है उसका गुण और वैशिष्ट्य क्या था। कवियों और चिंतकोंने इसका जो महान् और उदात्त प्रयोग किया वह इसकी क्षमताओंकी उच्चताके मुकाबले हीन कोटिका नहीं था। यह बात भी नहीं है कि भारतीय मनने ऊंची, सुन्दर और पूर्ण रचनाएं केवल संस्कृत भाषामें ही की हैं, यद्यपि अपनी अत्यंत प्रधान, रचनात्मक और बृहत्तम कृतियोंका बहुत बड़ा भाग उसने इसी भाषामें व्यक्त किया। उसकी रचनाओंका पूरा मूल्य आंकनेके लिये पाली भाषामें रचित बौद्ध साहित्यको तथा लगभग एक दर्जन संस्कृत-जनित और द्राविड़ भाषाओंके काव्य-साहित्योंको भी, जो अपनी रचनाओंकी दृष्टिसे कहीं तो प्रचुर हैं और कहीं बहुत परिमित, विचारमें लाना आवश्यक होगा। यह संपूर्ण भारतीय साहित्य प्रायः एक महाद्वीपीय प्रभाव रखता है और अपनी वस्तुतः स्थायी रचनाओंके परिमाणमें प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक यूरोपकी कृतियोंसे आजतक भी कम नहीं है तथा अपनी परमोत्कृष्ट रचनाओंमें उसकी बराबरी भी करता है। जो जाति और सभ्यता अपनी महान् कृतियों और अपने महान् साहित्यिकोंमें वेद और उपनिषदोंको, महाभारत और रामायणकी शक्तिशाली रचनाओंको और कालिदास, भवभूति, भर्तृहरि एवं जयदेवको गिनती हैं और साथ ही उच्चकोटिक भारतीय नाटक, काव्य और रूमानी उपन्यासकी अन्य समृद्ध रचनाओंको, धम्मपद और जातकोंको, पञ्चतन्त्रको, तुलसीदासको, विद्यापति, चंडीदास और रामप्रसादको, रामदास और तुकारामको, तिरुवल्लुवर और कंबनको तथा नानक, कबीर और मीराबाई एवं दक्षिणके शैव संतों और आळ्वारोंके गानोंको भी गिनती हैं,--यहां हमने केवल सुप्रसिद्ध लेखकों और अत्यंत विशिष्ट रचनाओंके ही नाम लिये हैं, यद्यपि विभिन्न भाषाओंमें प्रथम और द्वितीय दोनों कोटियोंकी अन्य श्रेष्ठ कृतियोंका भी अति विपुल समूह विद्यमान है,--उस जाति और उस सभ्यताको, निश्चय ही, सबसे महान् सभ्यताओंमें और संसारकी अत्यंत विकसित एवं सर्जनशील जातियोंमें गिनना होगा। यह इतनी महान् और इतनी उत्कृष्ट कोटिकी मानसिक क्रियाशीलता जिसका सूत्रपात हुए तीन सहस्र वर्षसे भी अधिक हो गये हैं और जो आजतक भी समाप्त नहीं हुई है, भारतीय संस्कृतिके अंदर विद्यमान, असाधारण रूपसे सबल और प्राणवंत किसी वस्तुका अनुपम, सर्वश्रेष्ठ और अत्यंत अकाटच प्रमाण है।

जो आलोचना इस अद्वितीय साहित्य-संपदाके मूल्यकी और प्रकटनशील आत्मा एवं सर्जनक्षम बुद्धिकी इस महत्ताकी उपेक्षा या अवज्ञा करती है, वह तुरंत ही अंध विद्वेष या दुर्धर्ष पक्षपात की दोषी ठहरती है और खंडनकी भी अधिकारिणी नहीं होती। इस छिद्रान्वेषी-

द्वारा किये गये आक्षेपोंपर विचार करना महज समय और शक्तिका अपव्यय करना होगा: क्योंकि यहां किसी साहित्यकी गौरव-गरिमाके लिये महत्त्व रखनेवाली कोई भी चीज वस्तुतः विवादका विषय नहीं है और उधर इस आलोचकके आक्रमणके खातेमें जमा करने लायक एकमात्र चीज है--सामान्य रूपसे सभी तथ्योंको तोड़ना-मरोड़ना और निंदा करना तथा उन ब्योरों और प्रकृतिगत विशेषताओंपर व्यर्थमें, पिल-पिलकर तथा बढ़ा-चढ़ाकर आक्षेप करना जो, अधिकसे अधिक, भारतके आदर्शनिर्मायक मन तथा प्रचुर कल्पना और यूरोपके अधिक यथार्थवादी ढंगसे देखनेवाले मन तथा कम समृद्ध और कम प्रचुर कल्पनामें भेद दिखलाती हैं। आलोचनाकी इस मूल-प्रेरणा और शैलीके अनुरूप उत्तर यही होगा कि कोई भारतीय आलोचक जिसने यूरोपका साहित्य केवल रद्दी या निष्प्रभाव भारतीय अनुवादोंके रूपमें ही पढ़ा हो, इसकी विद्वेषपूर्ण एवं निंदात्मक आलोचना करे और यह कहकर सब कुछ रद्द कर दे कि इलियड एक अधकचरा, खोखला, अर्द्ध-वर्बर और आदिम वीर-काव्य है, दांतेकी महान् कृति क्रूर और अंधविश्वासपूर्ण धार्मिक कल्पनाका दुःस्वप्न है, शेक्सपीयर मृगी-रोगजन्य कल्पनासे युक्त पुष्कल प्रतिभाका एक मदोन्मत्त बर्बर है, यूनान और स्पेन एवं इंगलैंडके संपूर्ण नाटक बुरे आचारशास्त्र और उग्र विभीषिकाओंका स्तूप हैं, फ्रेंच काव्य अलंकारोंकी एकरस या आडंबरपूर्ण कसरतोंकी एक श्रृंखला है और फ्रेंच गल्प-उपन्यास एक दूषित एवं अनैतिक वस्तु है, विलासिता-देवीकी वेदीपर दी गयी एक सुदीर्घ बलि है; वह (आलोचक) कहीं-कहीं छोटे-मोटे गुणको भले ही स्वीकार कर ले पर प्रधान भावना या सौंदर्यात्मक गुण या रचना-सिद्धांतको समझनेका जरा भी यत्न न करे और अपनी मूर्खतापूर्ण पद्धतिके बलपर यह परिणाम निकाले कि पेगन और क्रिश्चियन उभयविध यूरोपके आदर्श बिलकुल झूठे और बुरे थे और उसकी कल्पना एक "अभ्यासगत तथा पितृ-परंपरागत" पार्थिवता, विकृतता, दरिद्रता और अस्तव्यस्ततासे ग्रस्त थी। मूर्खताओंका ऐसा अंबार किसी भी आलोचनाके योग्य नहीं, और इस तीव्र निंदामें, जो उक्त प्रकारकी आलोचनाके समान ही हास्यास्पद है, अन्य टिप्पणियोंसे कुछ कम असंगत और कम अस्पष्ट दो-एक फुटकल टिप्पणियां ही शायद सरसरी दृष्टिकी अपेक्षा करती हैं। पर यद्यपि ये निरर्थक आलोचनाएं भारतीय काव्य और साहित्यके विषयपर सामान्य यूरोपीय मनकी सही रायका जरा भी प्रतिनिधित्व नहीं करतीं, तो भी हम देखते हैं कि भारतीय कृतिके मूलभाव या रूप या सौंदर्यात्मक मूल्यको और विशेषकर जातिके सांस्कृतिक मनकी एक अभिव्यक्तिके रूपमें इसकी पूर्णता एवं शक्तिको सराहनेमें यूरोपीय मन बहुधा असमर्थ ही रहता है। यहांतक कि सहानुभूतिपूर्ण आलोचकोंकी भी ऐसी आलोचनाएं हमारे देखनेमें आती हैं जिनमें भारतीय काव्यकी शक्ति, सौंदर्य और महत्ताको स्वीकार करते हुए भी परिणाम यह निकाला गया है कि इस सबके बावजूद यह संतोषप्रद नहीं है, और इसका अर्थ यह हुआ कि बौद्धिक और स्वभावमूलक भ्रांति कुछ हदतक रचनाके इस क्षेत्रमें भी व्यापी हुई है जहां विभिन्न प्रकारके मन चित्रकला और मूर्तिकलाकी अपेक्षा

अधिक सहज रूपमें एक हो जाते हैं, और साथ ही यह भी कि इन दो मनोवृत्तियोंके बीच एक दरार है और जो चीज एकके लिये आनंदप्रद तथा अर्थ और ओजसे परिपूर्ण है उसमें दूसरेके लिये सौंदर्यात्मक या बौद्धिक सुखका कोई तत्त्व नहीं, है केवल एक ऊपरी ढांचा। इस कठिनाईका कारण कुछ तो यह है कि एक व्यक्ति दूसरेकी भाषाकी जीवंत भावनाके अंदर पैठने और उसका प्राणवंत स्पर्श अनुभव करनेमें असमर्थ है, पर साथ ही कुछ यह भी कि दोनोंमें समानता होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टिसे एक भेद है जो पूर्ण असमानता और भिन्नतासे भी कहीं अधिक चकरानेवाला है। उदाहरणार्थ, चीनी काव्य बिलकुल अपने ही निजी ढंगका है और यदि पश्चिमी मनोवृत्ति इसे एक विजातीय जगत् समझकर इसके पाससे बिलकुल यों ही न निकल जाय तो उसके लिये इसके एक सुस्थिर मूल्यांकनका विकास करना अधिक संभव होता है क्योंकि तब मनकी ग्रहणशीलता किन्हीं भी व्याघातजनक स्मृतियों या तुलनाओंसे अवरुद्ध या कुंठित नहीं होती। इसके विपरीत, यूरोपके काव्यके समान भारतीय काव्य आर्य या आर्यभावापन्न राष्ट्रीय मनकी रचना है, वह प्रत्यक्षतः ही उसी प्रकारके हेतुओंसे उद्भूत होता है, उसी स्तरपर विचरण करता है, उसके सजातीय रूपोंका प्रयोग करता है, और फिर भी उसकी भावनामें कोई बिलकुल ही भिन्न वस्तु विद्यमान होती है जो उसके सौंदर्यात्मक पुटों, कल्पनाके प्रकार, आत्म-अभिव्यंजनाकी गतिविधि, परिकल्पना-कारी मन, पद्धति, रूप और रचनामें एक सुस्पष्ट एवं पृथक्कारी विभेदको जन्म देती है। यूरोपीय भावना और काव्यकलाका अभ्यस्त मन यहां भी उसी प्रकारकी तुष्टिकी आशा करता है पर उसे नहीं पाता, एक चकरानेवाले भेदको अनुभव करता है जिसके रहस्यसे वह अपरिचित है, और सूक्ष्म अनुसंधान करनेवाली तुलना तथा निरर्थक आशापूर्ण ग्रहणशीलता तथा गहरी समझके मार्गमें बाधा डालती हैं। मूलतः, पीछे अवस्थित एक सर्वथा भिन्न भावनाकी एवं इस संस्कृतिके भिन्न प्रकारके अंतस्तलकी अधूरी समझ ही एक मिश्रित आकर्षण और असंतोषको जन्म देती है। यह विषय इतना विस्तृत है कि एक छोटी-सी परिधिमें इसपर यथोचित रूपसे विचार नहीं किया जा सकता : सर्जनशील अंतर्ज्ञान और कल्पनाकी कुछेक अत्यंत प्रतिनिधिस्वरूप सर्वोत्कृष्ट रचनाओंपर, जिन्हें मैंने भारत-जातिके मन और अंतरात्माके अभिलेखके रूपमें ग्रहण किया है, विचार करके मैं केवल कुछ विशेष बातोंको ही प्रकाशमें लानेकी चेष्टा करूंगा।

राष्ट्रके गौरवमय यौवन-कालमें जब कि एक अगाध आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि कार्य कर रही थी, एक सूक्ष्म अंतर्ज्ञानात्मक दृष्टि और एक महान् रूपमें निर्धारित, गभीर एवं विशद बौद्धिक और नैतिक विचार-शृंखला तथा साहसिक कार्य-धारा एवं सृजन-प्रवृत्ति क्रियाशील थीं जिन्होंने उसकी अनुपम संस्कृति एवं सभ्यताकी योजना खोज निकाली एवं निर्धारित की और इसकी स्थायी इमारत खड़ी की,—ऐसे युगमें हमें भारतका प्राचीन मानस उसकी प्रतिभाकी चार परमोच्च कृतियों, वेद, उपनिषदों और दो बृहत् महाकाव्योंके द्वारा प्रस्तुत मिलता है, और

इनमेंसे प्रत्येक एक ऐसी कोटि एवं शैलीकी तथा ऐसी भावनासे संपन्न रचना है जिसकी बराबरी करनेवाली रचना किसी अन्य साहित्यमें आसानीसे नहीं मिल सकती। इनमेंसे पहली दो उसके आध्यात्मिक और धार्मिक स्वरूपका प्रत्यक्ष आधार हैं, शेष दो उसके जीवनके महत्तम युगकी, इसे अनुप्राणित करनेवाले विचारों एवं परिचालित करनेवाले आदर्शों तथा उन प्रतीकोंकी विशाल सर्जनक्षम व्याख्या हैं जिनके रूपमें उसने मनुष्य, प्रकृति और परमेश्वरको तथा जगत्‌की शक्तियोंको देखा था। वेदने हमें इन चीजोंके प्रथम प्रतिरूप और आकार प्रदान किये जैसे कि वे रूपकात्मक आध्यात्मिक अंतर्ज्ञान तथा मनोवैज्ञानिक और धार्मिक अनुभवके द्वारा देखे और गढ़े गये थे; उपनिषदें आकार, प्रतीक और रूपकको निरंतर भेद-कर तथा इनके परे जाकर पर इनका पूर्ण रूपसे त्याग किये बिना,--क्योंकि ये चीजें एक सहचारी तत्त्व या गौण वस्तुके रूपमें सदा ही आ घुसती हैं,--एक अद्वितीय कोटिके काव्यमें आत्मा, परमात्मा और मनुष्य तथा जगत् और इसके मूलतत्त्वों एवं इसकी शक्तियोंके--इन (मूलतत्त्वों और शक्तियों)के अत्यंत सारभूत, गभीरतम, अंतरंगतम एवं विस्तृततम वास्तविक रूपोंके--चरम-परम सत्योंको प्रकाशित करती हैं,--ये वास्तविक रूप परमोच्च रहस्य और विशद आलोक हैं जिन्हें एक ऐसी दुर्निवार एवं निर्बाध अनुभूतिके रूपमें स्पष्टतया देखा गया है जो अंतर्ज्ञानात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिके द्वारा विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टितक पहुंच चुकी है। और उपनिषदोंके बाद हम उस बुद्धि एवं जीवनकी तथा उन आदर्शभूत नैतिक, सौंदर्या-त्मक एवं चैत्य और भाविक, ऐंद्रिय तथा भौतिक ज्ञान, विचार, दृष्टि और अनुभवकी ओजस्वी और सुन्दर प्रगतियोंको देखते हैं जिनका कि हमारे महाकाव्य प्राचीन अभिलेख हैं और जिन्हें शेष सारा साहित्य अविच्छिन्न रूपसे विस्तारित करता है; परंतु आधार बराबर ही वही रहता है और जो भी नये एवं प्रायः व्यापकतर प्रतिरूप तथा अर्थपूर्ण आकार पुरानोंके स्थानपर आते हैं या संपूर्ण समष्टिमें कुछ वृद्धि, संशोधन और परिवर्तन करनेके लिये हस्त-क्षेप करते हैं वे अपनी मूल गठन और प्रकृतिमें आदि दृष्टि एवं प्रथम आध्यात्मिक अनुभवके रूपांतर और विस्तार ही होते हैं, वे ऐसे व्यतिक्रम कदापि नहीं होते जो उससे संबंध ही न रखते हों। साहित्यिक सृजनमें, महान् परिवर्तनोंके होते हुए भी, भारतीय मनकी दृढ़ लगन एवं अविच्छिन्न परंपरा कायम रही है जो वैसी ही सुसंगत है जैसी हम चित्रकला और मूर्ति-कलामें देखते हैं।

वेद उस आदिकालीन अंतर्ज्ञानात्मक और प्रतीकात्मक मनोवृत्तिकी रचना है जो मनुष्यके परवर्ती मनके लिये एक सर्वथा अपरिचित वस्तु बन गयी है क्योंकि वह प्रबल रूपमें बौद्धिक बन गया है तथा एक ओर तो तर्कशील विचार तथा अमूर्त परिकल्पनाके द्वारा और दूसरी ओर जीवन और जड़ तत्त्वके तथ्योंके द्वारा परिचालित होता है, जिन तथ्योंको उसी रूपमें स्वीकार कर लिया जाता है जैसे कि वे इंद्रियों तथा प्रत्यक्षवादी बुद्धिके संमुख उपस्थित होते हैं और उनमें किसी भी दिव्य या गुह्य अर्थकी खोज नहीं की जाती, और क्योंकि वह कल्पना-

को सत्यके द्वारोंको खोलनेवाली कुंजी नहीं वरंच सौंदर्यात्मक मौजकी एक क्रीड़ा मानकर उसमें संलग्न रहता है और केवल उसीके सुझावोंपर विश्वास करता है जब कि वे तार्किक युक्ति या स्थूल अनुभूतिके द्वारा पुष्ट होते हैं, और चूंकि वह उन्हीं अंतःस्फुरणाओंसे अभिज्ञ है जिन्हें सावधानताके साथ बौद्धिक रूप दे दिया गया है और अन्य सभी स्फुरणाओंका अधिकांशमें विरोध ही करता है। अतएव इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि वेद अपनी भाषाके अत्यंत बाहरी आवरणको छोड़कर हमारे मनोंके लिये दुर्बोध हो गया हो, और वह बाह्य आवरण भी एक प्राचीन तथा अच्छी तरह समझमें न आनेवाली शैलीकी बाधाके कारण अत्यंत अपूर्ण रूपमें ही बोधगम्य हो, और कि उसकी अत्यंत अनुपयुक्त व्याख्याएं की गयी हों जो मानवजातिके तरुण और तेजस्वी मनकी इस महत् कृतिको घटाकर एक दूषित और कुरूप लेख बना डालती हैं, एक आदिम कल्पनाकी मूर्खतापूर्ण बातोंका एक ऐसा असंगत मिश्रण बना देती हैं जिसके कारण वह चीज भी जटिल हो उठती है जो वैसे उस प्रकृतिवादी धर्म-का बिलकुल सीधा-सादा, स्पष्ट और सर्वसामान्य अभिलेख होती जो बर्बर प्राणप्रधान मनकी स्थूल और जड़वादीय कामनाओंको ही प्रतिबिंबित करता था और उन्हींकी सेवा कर सकता था। भारतीय पुरोहितों और पण्डितोंकी परवर्ती पांडित्यपूर्ण और कर्मकांडीय भावनाके लिये वेद गाथाविज्ञान और याज्ञिक क्रिया-कलापोंकी पुस्तक मात्र रह गया, इससे अच्छी कोई चीज नहीं; यूरोपीय विद्वानोंने वेदमें केवल अपनी बौद्धिक रुचिके विषयों, अर्थात् इतिहास, गाथाओं, और आदिम जातिके प्रचलित धार्मिक विचारोंकी ही खोज की है और इस प्रकार वेदके साथ और भी बड़ा अन्याय किया है और एक सर्वथा बाह्य व्याख्यापर बल देकर उसे उसके आध्यात्मिक आशय और उसकी काव्यात्मक महत्ता एवं सुन्दरतासे और भी अधिक वंचित कर दिया है।

परंतु स्वयं वैदिक ऋषियों या उनके बाद आनेवाले उन महान् द्रष्टाओं और मनीषियोंके लिये वेद यह चीज नहीं था, जिन्होंने कि उनकी अर्थगर्भित और प्रकाशपूर्ण अंतःस्फुरणाओंसे विचार और वाणीकी अपनी अद्‌भुत रचनाएं विकसित कीं जो एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक साक्षात्कार और अनुभवपर प्रतिष्ठित थीं। इन प्राचीन द्रष्टाओंके लिये वेद वह शब्द-ब्रह्म था जिसने सत्यको आविष्कृत किया और जीवनके रहस्यमय अर्थोंको रूपक एवं प्रतीकका परिधान पहराया। वह शब्दकी अंतर्निहित शक्तियोंका, उसकी रहस्यमय सत्योद्‌भासी और सर्जनशील क्षमताका दिव्य आविष्कार और प्राकटच था, पर वह शब्द नैयायिक और तार्किक या सौंदर्यात्मक बुद्धिका शब्द नहीं था, बल्कि एक बोधिजन्य और अंतःप्रेरित छंदोबद्ध वचन, **मंत्र**, था। उसमें रूपक और आख्यानका प्रयोग स्वच्छंदताके साथ किया गया था, पर वह कल्पनाकी उड़ानके रूपमें नहीं बल्कि उन चीजोंके जीवंत दृष्टांतों और प्रतीकोंके रूपमें किया गया था जो उनका वर्णन करनेवालोंके लिये अत्यंत वास्तविक थीं तथा जो और किसी प्रकारसे वाणीमें अपना आभ्यंतरिक एवं स्वाभाविक रूप नहीं प्राप्त कर सकती थीं, और स्वयं

कल्पना उनसे अधिक महान् सद्वस्तुओंकी पुरोहित थी जो जीवनके बाह्य सुझावों तथा भौतिक सत्तासे आबद्ध आंख और मनके संमुख आती हैं और इन्हें वशमें किये रहती हैं। पवित्रात्मा कविके संबंधमें उनकी धारणा यह थी कि वह एक ऐसा मनीषी होता है जिसे अपने मनमें किसी उच्चतम प्रकाशका तथा इसके विचारात्मक और शब्दात्मक रूपोंका साक्षात्कार हुआ होता है, वह सत्यका द्रष्टा और श्रोता होता है, **कवयः सत्यश्रुतयः**। निश्चय ही वैदिक मंत्रोंके कवि अपने कार्यको उस रूपमें नहीं देखते थे जिस रूपमें आधुनिक विद्वानोंने उसका निरूपण किया है, वे अपनेको एक बलिष्ठ और बर्बर जातिके लिये एक प्रकारके तंत्र-मंत्र एवं जादू-टोनेका निर्माण करनेवाले नहीं, बल्कि **ऋषि** और **धीर**[1] समझते थे। इन गायकोंका विश्वास था कि इन्हें एक उच्च, रहस्यमय और गुप्त सत्य प्राप्त है, इनका दावा था कि ये एक ऐसी वाणीको धारण करते हैं जो दिव्य ज्ञानको स्वीकार्य है, और अपने वचनोंके बारेमें ये स्पष्ट रूपसे ऐसी बात कहते भी हैं कि वे रहस्यमय शब्द हैं जो अपना संपूर्ण तात्पर्य केवल ऋषिके समक्ष ही प्रकाशित करते हैं, **कवये निवचनानि निण्या वचांसि**। और जो द्रष्टा इनके बाद आये उनके लिये वेद ज्ञानका, और यहांतक कि एक परम ज्ञानका, ग्रंथ था, एक ईश्वरीय ज्ञान, एक सनातन और निर्व्यक्तिक सत्यका, जैसा कि वह अंतःप्रेरित और भगवत्तुल्य मनीषियों (धीरों) के अंतरीय अनुभवमें देखा और सुना गया था, महान् प्रकाश था। यज्ञकी जिन छोटीसे छोटी क्रियाओंके विषयमें मंत्र लिखे गये थे उनका प्रयोजन अर्थकी एक प्रतीकात्मक तथा मनोवैज्ञानिक शक्तिको वहन करना था, जैसा कि प्राचीन ब्राह्मण-ग्रंथोंके लेखकोंको भलीभांति विदित था। पवित्र मंत्रोंको, जिनमेंसे प्रत्येक अपने-आपमें दिव्य अर्थसे पूर्ण समझा जाता था, उपनिषदोंके विचारक अपने अन्वेषणीय सत्यके गभीर और अर्थगर्भित बीजरूप शब्द मानते थे और अपने उदात्त उद्‌गारोंके लिये वे जो सर्वोच्च प्रमाण दे सकते थे वह था अपने पूर्वगामी ऋषियोंके ग्रंथसे उद्धृत कोई समर्थक वचन जिसके साथ वे '**तदेषा ऋचाभ्युक्ता**' अर्थात् "यह वह वाणी है जो ऋग्वेदने उच्चारित की थी" इस सूत्रका प्रयोग करते थे। पश्चिमी विद्वान् यह कल्पना करना पसंद करते हैं कि वैदिक ऋषियोंके उत्तराधिकारियोंने भूल की है, कुछेक बादके मंत्रोंको छोड़कर अन्य पुराने मंत्रोंमें उन्होंने एक मिथ्या और अ-सत् अर्थ भर दिया है और केवल युगोंके द्वारा ही नहीं बल्कि बौद्धिकतामें रंगी मनोवृत्तिकी अनेक खाइयों और विभाजक समुद्रोंके द्वारा भी उन ऋषियोंसे पृथक् हुए हुए वे स्वयं उनसे अनंतगुना उत्तम ज्ञान रखते हैं। परंतु केवल साधारण बुद्धिसे भी हमें यह पता लग जाना चाहिये कि जो लोग दोनों तरहसे मूल कवियोंके इतना अधिक निकट थे उनके लिये कम-से-कम इस विषयका सारभूत सत्य अधिकृत करनेकी अधिक अच्छी संभावना थी और साधारण बुद्धि ही, कम-से-कम, इस प्रबल संभावनाका संकेत देती है कि

[1]धीर=धी+र, अर्थात् धी या विचारमें रत रहनेवाले।—अनु०

वेद वस्तुतः वही चीज था जो कुछ होनेका वह दावा करता है, अर्थात् वह एक गुह्य ज्ञानकी खोज था, भारतीय मनके उस अनवरत प्रयत्नका,––भारतीय मन अपने इस प्रयत्नके प्रति सदैव सच्चा रहा है,––प्रथम रूप था जो उसने स्थूल जगत्‌की प्रतीतियोंसे परे देखने और अपने आंतरिक अनुभवोंके द्वारा उस एकमेवके देवताओं, उसकी शक्तियों और स्वयंभू-सत्ताको देखनेके लिये किया था जिसके विषयमें ज्ञानी लोग नाना प्रकारसे चर्चा करते हैं––यह वह प्रसिद्ध पदावलि है जिसमें वेद अपना केंद्रीय रहस्य प्रकट करता है, **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।**

यदि हम वेदका कोई भी स्थल लेकर इसके अपने ही पदों और रूपकोंके अनुसार सीधे-सरल रूपमें इसकी व्याख्या करें तो इसका असली स्वरूप बहुत अच्छी तरह समझमें आ सकता है। एक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् अपनी श्रेष्ठ बुद्धिके ऊंचे आसनसे उन मूर्ख लोगोंकी जिन्हें वेदमें उदात्तता दिखायी देती है भर्त्सना करता हुआ हमें बताता है कि यह बालिश, मूर्खतापूर्ण, यहांतक कि बीभत्स कल्पनाओंसे भरा हुआ है, एक क्लिष्ट, हीन और तुच्छ रचना हैं और मानव प्रकृतिके स्वार्थ एवं लौकिकतावाले निम्न स्तरका प्रतिनिधित्व करता है और केवल कहीं-कहीं कुछेक ऐसी विरली भावनाएं हैं जो अंतरात्माकी गहराइयोंसे आती हैं। वेदको ऐसा रूप दिया जा सकता है यदि हम ऋषियोंके वचनोंमें अपनी मानसिक कल्पनाएं भर दें, परंतु यदि हम उन्हें उसी रूपमें पढ़ें जैसे कि वे हैं और हमारी समझमें उन प्राचीन बर्बरोंको जैसी बातें कहनी और सोचनी चाहिये थीं वैसी बातोंमें उनका इस प्रकार कोई मिथ्या रूपांतर न करें तो इसके स्थानपर हमें वहां एक पवित्र काव्यके दर्शन होंगे जो अपने शब्दों और रूपकोंमें उदात्त और ओजस्वी है यद्यपि उसकी भाषा और कल्पना उनसे भिन्न प्रकारकी हैं जिन्हें हम आज अधिक पसंद करते और सराहते हैं; और साथ ही, अपने मनोवैज्ञानिक अनुभवमें गंभीर और सूक्ष्म है तथा अंतर्दर्शन और वाणीकी द्रवित आत्माद्वारा स्पंदित है। स्वयं वेद की कुछ वाणी सुन लीजिये:

"भूमिकाओंपर भूमिकाएं उदित होती हैं, आवरणपर आवरण[1] ज्ञानकी ओर जाग उठता है: मांकी गोदमें वह सब कुछ पूर्ण रूपसे देखता है। उन्होंने उसे पुकारा है, विशाल ज्ञान लाभ करके वे निर्निमेष भावसे शक्तिकी रक्षा करते हैं, उन्होंने दृढ़ पुरीमें प्रवेश पा लिया है। इस भूतलपर उत्पन्न हुए मनुष्य शुभ्रवर्णा माता (श्वित्रा) के पुत्रकी ज्योतिर्मय (शक्ति)-को बढ़ाते हैं; वह अपनी ग्रीवामें स्वर्ण धारण किये है, उसकी वाक्शक्ति विशाल है, वह मानो इस मधुके (इसकी शक्तिके) द्वारा भूमाकी कामना करनेवाला है। वह प्रिय और काम्य दुग्धकी तरह है, वह एक अकेली वस्तु है और दोके साथ विद्यमान है जो (परस्पर) सहचर हैं; वह एक ऐसे तापके समान है जो भूमाका उदर है, वह अजेय है और अनेकोंका

[1]अथवा, "आवरणका आवरण"।

विजेता है। अपनी क्रीड़ा कर, ओ रश्मि, और प्रकट हो।"[1] (ऋग्वेद ५. १९)

—या फिर अगले सूक्तमें,—

"तुझ शक्तिमय '(देव) की वे (ज्वालाएं) जो अचल, प्रवृद्ध और बलशाली हैं, (तुझसे) भिन्न नियमवालेके द्वेष और कुटिलताका संग छोड़ देती हैं। हे अग्ने! हम तुझे पुरोहित, तथा अपने बलको क्रियान्वित करनेके साधनके रूपमें वरते हैं और यज्ञोंमें तेरे लिये प्रसन्नताकारक हवि लाते हुए तुझे (अपनी) वाणीसे पुकारते हैं... हे पूर्ण कर्मोंके देवता! (हे सुक्रतु!) कृपा कर कि हम आनंद और सत्यके भागी हों, किरणोंके साथ आनंद मनायें, वीरोंके साथ आनंद मनायें।"

—और अंतमें हम इसके बादके, तीसरे, सूक्तका एक बड़ा भाग लें जिसमें भावका प्रकाशन यज्ञके साधारण प्रतीकोंमें किया गया है,—

"मनुके रूपमें हम तुझे तेरे स्थानपर स्थापित करते हैं, मनुके रूपमें तुझे प्रदीप्त करते हैं: हे अग्ने! हे अङ्गिरः! मनुके रूपमें तू देवोंकी कामना करनेवालेके लिये देवोंका यजन कर। हे अग्ने! सुप्रसन्न होकर तू मनुष्यमें प्रदीप्त होता है और स्रुवाएं निरंतर तेरी ओर जाती हैं... तुझे सब देवोंने, (तुझ ही में) एकमात्र आनंद लेते हुए, अपना दूत बनाया और तेरी सेवा-सपर्या करते हुए, हे क्रांतदर्शिन् (कवे), (मनुष्य) यज्ञोंमें देवताकी स्तुति करते हैं। देवोंके यजनके द्वारा मर्त्य दिव्य अग्निकी स्तुति करे। प्रदीप्त होकर, जाज्वल्यमान हो, हे दीप्तिमान् (शुक्र)! सत्यके आसनपर आसीन हो, शांतिके आसनपर विराजित हो।"[2]

—इसके रूपकोंकी हम चाहे जो भी व्याख्या करना पसंद करें पर यह एक गुह्य और प्रतीकात्मक काव्य है और यही है वास्तविक वेद।

इन विशिष्ट मंत्रोंसे वैदिक काव्यका जो स्वरूप हमारे सामने प्रकट होता है उससे हैरान या परेशान होनेकी कोई जरूरत नहीं जब कि हम यह देखते हैं,—और यह बात एशियाई साहित्यके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट हो जायगी, कि यद्यपि वैदिक काव्य ईश्वरीय-वाणी-विषयक अपने सिद्धांत और निरूपण, रूपकोंकी अपनी अनोखी प्रणाली तथा अपने विचार और प्रतीकोंमें वर्णित अपने अनुभवकी जटिलताके कारण औरोंसे भिन्न है, फिर भी वास्तवमें यह आध्यात्मिक अनुभवकी काव्यमय अभिव्यक्तिके लिये प्रतीकात्मक या आलंकारिक कल्पना-सृष्टिके एक रूपका आरंभ है जो बादके भारतीय ग्रंथोंमें, तंत्रों और पुराणोंके रूपकों और वैष्णव कवियोंके अलंकारोंमें,—यहां तक कि हम रवीन्द्रनाथ ठाकुरके आधुनिक काव्यके कुछ

---

[1]शब्दशः, "हमारी ओर अभिमुख हो।"

[2]इन स्थलोंका अनुवाद मैंने मूलके इतने निकट, शाब्दिक रूपमें किया है जितना कि अंग्रेजी भाषामें करना संभव है। पाठक मूलसे मिलाकर स्वयं निर्णय कर लें कि आया इन मंत्रोंका आशय यही है या नहीं।

अंशको भी यहां जोड़ सकते हैं,——पुनः पुनः प्रकट होता है और जिससे मिलती-जुलती चेष्टाएं कुछेक चीनी कवियोंमें तथा सूफियोंके रूपकोंमें भी पायी जाती हैं। कविको एक आध्यात्मिक और आंतरात्मिक ज्ञान एवं अनुभवकी अभिव्यंजना करनी होती है और यह कार्य वह, पूर्णतया या मुख्य रूपसे, दार्शनिक विचारककी अधिक गूढ़ भाषामें नहीं कर सकता, क्योंकि उसे केवल इसके कोरे विचारको ही नहीं बल्कि इसके साक्षात् जीवन और अत्यंत घनिष्ठ स्पर्शोंको भी यथासंभव स्पष्ट रूपमें व्यक्त करना होता है। उसे किसी-न-किसी प्रकार अपने अंदरके एक संपूर्ण जगत्को तथा अपने चारों ओरके जगत्के सर्वथा आंतरिक और आध्यात्मिक अर्थोंको और साथ ही, यह भी खूब संभव है कि, चेतनाके जिस स्तरसे हमारे सामान्य मन परिचित हैं उससे भिन्न स्तरोंके देवताओं, शक्तियों, अंतर्दर्शनों और अनुभवोंको प्रकाशित करना होता है। वह अपने सामान्य और बाह्य जीवन तथा मानवजातिके जीवन और दृश्यमान प्रकृतिसे लिये हुए रूपकोंको प्रयुक्त करता है या उन्हींको लेकर चलता है, और यद्यपि वे वस्तुतः आध्यात्मिक और आंतरात्मिक विचार एवं अनुभवको अपने-आप तो प्रकट नहीं करते तथापि वह उन्हें इसे व्यंजनाके द्वारा या आलंकारिक रूपमें प्रकट करनेके लिये बाध्य करता है। वह अपनी अंतर्दृष्टि या कल्पनाके अनुसार रूपकोंकी अपनी संकेत-मालाका स्वतंत्रतापूर्वक चुनाव करता हुआ उन्हें अपनाता है और उन्हें एक अन्य अर्थके द्योतक साधनोंके रूपमें परिणत कर देता है और साथ ही प्रकृति और जीवनमें, जिनके साथ कि वे संबंध रखते हैं, एक प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अर्थ ढाल देता है, आंतरिक वस्तुओंपर बाह्य अलंकारोंका प्रयोग करता है और उनके प्रसुप्त एवं अंतरीय आध्यात्मिक या चैत्य अर्थको जीवनके बाह्य रूपकों और घटनाओंके रूपमें व्यक्त कर देता है। अथवा एक बाह्य रूपक-को ही जो आंतरिक अनुभवके निकटतम एवं उसकी एक स्थूल प्रतिलिपि होता है, सर्वत्र अपनाया जाता है और उसका प्रयोग ऐसे यथार्थवाद और संगतिके साथ किया जाता है कि जहां वह उसका ज्ञान रखनेवालोंके लिये आध्यात्मिक अनुभवको सूचित करता है, वहां दूसरों-के लिये वह केवल बाह्य वस्तुका ही द्योतक होता है,——ठीक वैसे ही जैसे बंगालका वैष्णव काव्य भक्तिप्रवण मनके लिये मानव आत्माके ईश्वर-प्रेमका भौतिक और भावमय रूपक या संकेत प्रस्तुत करता है, किंतु सांसारिक लोगोंके लिये वह एक ऐसे ऐंद्रिय और उत्तेजक प्रेम-काव्यके सिवा कुछ नहीं होता जो रूढ़िबद्ध रूपसे कृष्ण और राधाके परंपरागत मानव-दिव्य व्यक्तित्वोंकी धुरीपर ही अवलंबित रहता है। दोनों पद्धतियां एक साथ मिल-कर कार्य कर सकती हैं, अर्थात् बाह्य रूपकोंकी नियत प्रणालीको काव्यके शरीरके रूपमें प्रयुक्त किया जाय जब कि उनकी पहली सीमाओंको पार करने, उन्हें केवल आरंभिक सुझावोंके रूपमें बरतने और सूक्ष्मताके साथ रूपांतरित करने अथवा यहांतक कि उन्हें त्याग देने या किसी गौण स्वरके रूपमें दबा देने या फिर उन्हें अतिक्रम कर जानेकी स्वतंत्रता प्रायः ही बरती जाय ताकि (सत्यकी झांकीके लिये) वे हमारे मनोंके संमुख जो पारदर्शक-सा

पर्दा प्रस्तुत करते हैं वह उठ जाय या एक खुले सत्यदर्शनमें परिणत हो जाय। इनमेंसे अंतिम वेदकी पद्धति है और वह कविके अंदर होनेवाले दृष्टिके संवेग और दबावके तथा उसके उद्‌गारकी उदात्तताके अनुसार भिन्न-भिन्न होती है।

वेदके कवियोंकी मनोवृत्ति हमारी मनोवृत्तिसे भिन्न थी, उनका अपने रूपकोंका प्रयोग निराले प्रकारका है और एक प्राचीन ढंगकी अंतर्दृष्टि इन (रूपकों) की विषय-वस्तुको एक अद्‌भुत रूप-रेखा प्रदान करती है। भौतिक और आंतरात्मिक लोक उनकी दृष्टिमें वैश्व देवताओंकी एक अभिव्यक्ति और एक द्विविध एवं विभिन्न पर फिर भी संबद्ध और सजातीय प्रतिमूर्ति थे, मनुष्यका आंतरिक और बाह्य जीवन देवताओंके साथ एक दिव्य आदान-प्रदान था, और इनके पीछे था एकमेव आत्मा या **'एकं सत्'** जिसके कि नाम, व्यक्तित्व और शक्तियां ये देवता थे। ये देवता भौतिक प्रकृतिके स्वामी थे और साथ ही इसके मूलतत्त्व और रूप भी थे, इनके देवता थे और साथ ही इनके शरीर तथा इनकी ऐसी आंतरिक दिव्य शक्तियां भी थे जिनसे मिलती-जुलती अवस्थाएं और शक्तियां हमारी चैत्य सत्तामें उत्पन्न हुई हैं क्योंकि ये विश्वकी अंतरात्म-शक्तियां हैं, सत्य और अमरताके संरक्षक तथा 'अनंत' (अदिति) के पुत्र हैं, और इनमेंसे प्रत्येक ही अपने उद्‌गम और अपने अंतिम सत्य-स्वरूपमें वह परम आत्मा है जिसने अपने अनेक रूपोंमेंसे एकको सामनेकी ओर कर रखा है। इन क्रांतदर्शियोंके लिये मनुष्यका जीवन सत्य और असत्यके मिश्रणसे बनी हुई एक वस्तु था, मर्त्यतासे अमरताकी ओर, इस मिश्रित प्रकाश और अंधकारसे एक ऐसे दिव्य सत्यके महा-तेजकी ओर गति था जिसका घर ऊपर अनंतमें है पर जिसका निर्माण यहां मनुष्यकी अंत-रात्मा और जीवनमें भी किया जा सकता है, साथ ही मनुष्यका जीवन प्रकाशकी संतानों और अंधकारके पुत्रोंके बीच एक संग्राम था, एक खजानेको, देवताओंके द्वारा मानव योद्धाको दिये गये ऐश्वर्य एवं जीतके मालको प्राप्त करना था, और साथ ही वह एक यात्रा एवं यज्ञ था। और इन चीजोंका वर्णन वे ऐसे रूपकोंकी एक नियत पद्धतिके द्वारा करते थे जो प्रकृतिसे तथा युद्धप्रिय, पशुपालक और कृषिजीवी आर्य जातियोंके पारिपार्श्विक जीवनसे लिये गये थे और अग्नि-उपासनाकी प्रणाली, सजीव प्रकृतिकी शक्तियोंकी पूजा और यज्ञकी प्रथाके चारों ओर केंद्रित थे। बाह्य अस्तित्व और यज्ञकी छोटी-मोटी क्रियाएं उनके जीवन तथा आचरणमें आंतरिक वस्तुओंके प्रतीक थीं, और उनके काव्यमें ये क्रियाएं उन वस्तुओंके निर्जीव प्रतीक या कृत्रिम उपमाएं नहीं बल्कि जीवंत और शक्तिशाली संकेत और प्रतिलिपियां थीं। और अपने भावोंके प्रकाशनके लिये वे अन्य रूपकोंके एक सुनिश्चित पर फिर भी परिवर्तनीय आकारका और गाथा एवं दृष्टांतके उज्ज्वल ताने-बानेका भी प्रयोग करते थे, ऐसे रूपकोंका जो दृष्टांत बन जाते थे, ऐसे दृष्टांतोंका जो गाथाएं बन जाते थे और ऐसी गाथाओंका जो सदा रूपक ही रहती थीं, और फिर भी ये सब चीजें उनके लिये, एक ऐसे प्रकारसे जिसे केवल वही समझ सकते हैं जो एक विशेष श्रेणीके आंतरात्मिक अनुभवमें प्रवेश पा चुके हैं, यथार्थ सद्वस्तुएं थीं। भौतिक वस्तु अपनी छायाओं-

को आंतरात्मिक वस्तुकी प्रभाओंमें विलीन कर देती थी, 'आंतरात्मिक' गहरी होकर 'आध्यात्मिक' के प्रकाशमें परिणत हो जाती थी और इस संक्रमणमें कोई तीव्र विभाजक रेखा नहीं होती थी, होता था केवल उनके संकेतों और रंगोंका स्वाभाविक संमिश्रण और परस्पर-प्रभाव। यह प्रत्यक्ष ही है कि इस प्रकारकी दृष्टि या कल्पनावाले व्यक्तियोंद्वारा लिखा हुआ इस प्रकारका काव्य केवल भौतिक सत्ताके नियमोंका ही ध्यान रखनेवाली तर्कबुद्धि और रुचिके मानदंडोंके द्वारा समझा-समझाया नहीं जा सकता और न वह इनके द्वारा परखा ही जा सकता है। "क्रीड़ा कर, ओ रश्मि, और हमारी ओर अभिमुख हो", यह आवाहन एक साथ ही भौतिक वेदीपर प्रज्वलित शक्तिशाली यज्ञिय ज्वालाके भभक उठने एवं प्रकाशपूर्ण क्रीड़ा करनेका तथा एक इसी प्रकारकी आंतरात्मिक क्रियाका, अर्थात् हमारे अंदर एक दिव्य शक्ति और ज्योतिकी उद्धारकारी ज्वालाके प्रकट होनेका संकेत है। पश्चिमी आलोचक उस साहसपूर्ण तथा विवेकशून्य रूपकपर,—जो उसे भयानक भी प्रतीत होता है,—नाक-भौं सिकोड़ता है जिसमें कहा गया है कि द्यावापृथिवीका पुत्र इंद्र अपने ही पिता और माताको जन्म देता है; पर यदि हम यह बात स्मरण रखें कि इंद्र परम आत्मा ही है जो अपने एक अन्यतम नित्य-शाश्वत रूपमें विद्यमान है, पृथ्वी और द्यौका स्रष्टा है, मनोमय और भौतिक लोकोंके बीच एक वैश्व देवताके रूपमें उत्पन्न हुआ है और उन लोकोंकी शक्तियोंको मनुष्यमें फिरसे उत्पन्न करता है, तो हम देखेंगे कि यह रूपक केवल शक्तिशाली ही नहीं अपितु सचमुचमें एक यथार्थ और सत्यप्रकाशक अलंकार है, और वैदिक परिभाषामें इस बातका कोई महत्त्व नहीं कि यह भौतिक कल्पनाकी मर्यादाको भंग करता है, क्योंकि यह एक महत्तर तथ्यको प्रकट करता है जैसे कि अन्य कोई अलंकार ऐसी प्रबोधक उपयुक्तता और सजीव काव्य-शक्तिके साथ न कर सकता। वेदके वृषभ और गौ, सूर्यके चमकीले 'गोयूथ' जो गुफामें छुपे पड़े हैं स्थूल मनके लिये काफी विचित्र प्राणी हैं, पर वे इस पृथ्वीकी चीजें नहीं हैं, और अपने स्तरमें वे एक ही साथ रूपक और यथार्थ वस्तुएं दोनों हैं और जीवन तथा अर्थसे परिपूर्ण हैं। वैदिक काव्यकी व्याख्या और सराहना हमें आद्योपांत इसी ढंगसे, इसकी अपनी मूलभावना और दृष्टि, तथा इसके विचारों और अलंकारोंके सत्यके अनुसार ही करनी चाहिये जो हमारे लिये भले ही विचित्र और अतिप्राकृतिक हो पर आंतरात्मिक दृष्टिसे तो बिलकुल स्वाभाविक है।

वेदको जब इस प्रकार समझ लिया जाता है तो वह एक अद्भुत, उदात्त और शक्तिशाली काव्य-रचना ठहरता है, साथ ही उसका यह आकर्षण तो है ही कि वह संसारका सबसे पहला, फिर भी अबतक उपलब्ध धार्मिक ग्रंथ है और मनुष्य, परमेश्वर तथा विश्वकी सबसे प्राचीन व्याख्या है। वह अपने रूप और भाषामें कोई बर्बर कृति नहीं है। वेदके कवि उत्कृष्ट काव्य-कलाके विशारद हैं, उनके स्वर-ताल देवताओंके रथोंके समान अलंकृत हैं और ध्वनिके दिव्य तथा विशाल पंखोंपर सवार हैं, एक साथ ही केंद्रित तथा सुदूरव्यापी

हैं, गतिच्छंदमें महान् और स्वरलहरीमें सूक्ष्म हैं, उनकी वाणी गहराईके कारण भावोत्तेजक और ऊंचाईके कारण वीररसमयी होती हुई एक महान् शक्तिका उद्‌गार है, अपनी रूपरेखामें विशुद्ध, साहसपूर्ण और विराट् है, एक ऐसी वाणी है जो हृदयपर सीधे और संघट्ट रूपमें प्रभाव डालती है तथा जो अर्थ और संकेतसे इस तरह लबालब भरी हुई है कि प्रत्येक मंत्र अपने-आपमें एक-सशक्त और पर्याप्त वस्तुके रूपमें अपना अस्तित्व रखता है और साथ ही जो कुछ पहले आ चुका है और जो बादमें आता है उन दोनोंके बीचके एक बड़े पगके रूपमें भी अपना स्थान रखता है। निष्ठापूर्वक अनुसरण की हुई एक पवित्र और पुरोहितीय परंपरा ही उन्हें अपने विषयका बाह्य रूप और सारतत्त्व दोनों प्रदान करती थी, परंतु यह सारतत्त्व उन गहरेसे गहरे आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक अनुभवोंसे गठित होता था जिनतक मानव आत्माकी पहुंच हो सकती है और वे रूप ह्रासको प्राप्त होकर कदाचित् ही कभी रूढ़िमें परिणत होते हैं या कभी भी नहीं होते, क्योंकि जिस वस्तुको द्योतित करनेके लिये वे अभिप्रेत हैं उसे प्रत्येक कवि अपने जीवनमें उतारता था और अपने वैयक्तिक अंतर्दर्शनकी सूक्ष्म या उदात्त अवस्थाओंके द्वारा वह उन्हें अपने मनके लिये अभिव्यक्तिका नया रूप प्रदान करता था। विश्वामित्र, वामदेव, दीर्घतमस् तथा अन्य बहुतसे अतिमहान् ऋषियोंके वचन एक उदात्त और रहस्यमय काव्यकी अत्यंत असाधारण उच्चताओं एवं विशालताओंको स्पर्श करते हैं और कुछ एक सृष्टि-सूक्त-जैसी कविताएं भी हैं जो ओजस्वी और प्रसादपूर्ण रूपमें विचारके उन शिखरोंपर विचरण करती हैं जिनपर उपनिषदें अधिक स्थिरतापूर्वक श्वास लेती हुई निरंतर विचरण करती थीं। प्राचीन भारतके मनने कोई भूल नहीं की जब कि उसने अपने समस्त दर्शन और धर्मका तथा अपनी संस्कृतिकी सभी प्रधान बातोंका मूल इन ऋषि-कवियोंकी वाणीमें जा ढूंढ़ा, क्योंकि भारतवासियोंकी समस्त भावी आध्यात्मिकता बीज या प्रथम आविर्भावके रूपमें वहीं (उनकी वाणीमें ही) निहित है।

पवित्र साहित्यके रूपमें वैदिक सूक्तोंको ठीक तरहसे समझनेका एक बड़ा महत्त्व यह है कि यह हमें भारतीय मनपर शासन करनेवाले प्रधान विचारोंका ही नहीं अपितु उसके आध्यात्मिक अनुभवके विशिष्ट प्रकारों, उसकी कल्पनाके झुकाव, उसके सर्जनशील स्वभाव तथा उसके उन विशेष प्रकारके अर्थपूर्ण रूपोंका भी मूल स्वरूप देखनेमें सहायता पहुंचाता है जिनमें वह आत्मा और पदार्थों तथा जगत् और जीवनके संबंधमें अपनी दृष्टिकी दृढ़तापूर्वक व्याख्या करता था। भारतीय साहित्यके एक बड़े भागमें हमें अंतःप्रेरणा और आत्म-अभिव्यंजनाका वही झुकाव देखनेमें आता है जिसे हम अपने स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकलामें पाते हैं। इसकी पहली विशेषता यह है कि इसे सतत रूपसे अनंत एवं वैश्व सत्ताका बोध होता है, और वस्तुओंका भी उस रूपमें भान होता है जैसी कि वे वैश्व दृष्टिमें या उसके द्वारा प्रभावित होनेपर दीखती हैं, अथवा जैसी वे एकमेव और अनंतकी विशालताके भीतर या संमुख रखनेपर दिखायी देती हैं; इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह अपने आध्या-

त्मिक अनुभवको आभ्यंतर चैत्य स्तरसे लिये गये रूपकोंके परमैश्वर्यके रूपमें अथवा उन भौतिक रूपकोंके रूपमें देखने और व्यक्त करनेमें प्रवृत्त होता है जो चैत्य अर्थ, प्रभाव, रेखा और विचार-छटाके दबावके द्वारा रूपांतरित हो चुके होते हैं; और इसकी तीसरी प्रवृत्ति पार्थिव जीवनको प्रायः परिवर्द्धित रूपमें चित्रित करनेकी है, जैसा कि हम महाभारत और रामायणमें देखते हैं, अथवा उसे एक विशालतर वातावरणकी शुभ्रताओंमें सूक्ष्म रूप प्रदान कर तथा पार्थिव अर्थकी अपेक्षा किसी महत्तर अर्थसे संयुक्त करके चित्रित करने या, कम-से-कम, उसे केवल उसके अपने पृथक् रूपमें ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक और आंतरात्मिक लोकोंकी पृष्ठभूमिमें प्रस्तुत करनेकी है। आध्यात्मिक एवं अनंत सत्ता निकटस्थ और वास्तविक है तथा देवता भी वास्तविक हैं और (हमसे) परेके लोक हमारी सत्तासे परे होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उसके भीतर अवस्थित हैं। जो चीज पश्चिमी मनके लिये एक गाथा और कल्पना है वह यहां एक वास्तविक तथ्य है और है हमारी आंतरिक सत्ताके जीवनका एक तंतु, जो चीज वहां एक सुन्दर काव्यमय परिकल्पना और दार्शनिक विचारणा है वह यहां एक ऐसी वस्तु है जो अनुभवके लिये सर्वदा उपलब्ध और विद्यमान है। भारतीय मनकी यह प्रवृत्ति, उसकी आध्यात्मिक सद्हृदयता एवं आंतरात्मिक प्रत्यक्षवादिता ही वेद और उपनिषदोंको तथा पीछेके धार्मिक एवं धर्म्य-दार्शनिक काव्यको अंतःप्रेरणाकी दृष्टिसे इतना शक्तिशाली और अभिव्यंजना तथा रूपककी दृष्टिसे इतना अंतरंग और सजीव रूप प्रदान करती है, साथ ही अधिक लौकिक साहित्यमें भी काव्यमय भावना और कल्पनाकी क्रियापर इसका प्रभाव कुछ कम अभिभूतकारी होनेपर भी अत्यंत प्रत्यक्ष रूपमें दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

ग्यारहवां अध्याय

भारतीय साहित्य

उपनिषदें भारतीय मनकी परमोच्च कृति हैं, और यह चीज बहुत महत्त्वपूर्ण है, यह एक अनुपम मनोवृत्तिका तथा आत्माकी असाधारण प्रवृत्तिका प्रमाण है कि भारतकी प्रतिभाकी सर्वोच्च आत्म-अभिव्यक्ति, उसका उदात्ततम काव्य, उसकी विचार और शब्दकी महत्तम रचना साधारण ढंगकी साहित्यिक या काव्यात्मक श्रेष्ठ कृति न होकर इस प्रकारके साक्षात् और गभीर आध्यात्मिक सत्यदर्शनका विशाल प्रवाह है। उपनिषदें गंभीर धार्मिक ग्रंथ हैं,— क्योंकि वे गहनतम आध्यात्मिक अनुभवोंका अभिलेख हैं,——अक्षय ज्योति, शक्ति और विशालतासे संपन्न, सत्य-प्रकाशक और अंतर्ज्ञानात्मक दर्शनके लिपिबद्ध विवरण हैं और साथ ही, चाहे वे पद्यमें लिखी हुई हों या लयबद्ध गद्यमें, पूर्ण एवं अचूक अंतःप्रेरणासे युक्त आध्यात्मिक कविताएं हैं, जिनकी पदावलि नितांत स्वाभाविक और लय तथा अभिव्यंजना अद्भुत हैं। वे एक ऐसे मनकी अभिव्यक्ति हैं जिसमें दर्शन, धर्म और काव्य एक हो गये हैं, क्योंकि यह धर्म एक मतवादमें ही समाप्त नहीं हो जाता और न यह किसी धार्मिक-नैतिक अभीप्सातक ही सीमित है, यह तो परमेश्वर एवं आत्म-तत्त्वकी और हमारी आत्मा एवं सत्ताके उच्चतम और समग्र सत्स्वरूपकी असीम खोजतक ऊंचे जाता है और एक प्रकाशपूर्ण ज्ञान तथा भावविभोर एवं परिपूर्ण अनुभवके हर्षावेशमें अपनी वाणी उच्चारित करता है, (इसी प्रकार) यह दर्शन सत्यके विषयमें कोई अमूर्त बौद्धिक कल्पना नहीं है और न यह तार्किक बुद्धिकी कोई रचना ही है, यह तो एक सत्य है जिसे अंतरतम मन और आत्माने जीवनमें उतारा है तथा एक सुनिश्चित खोज और उपलब्धिको व्यक्त करनेके हर्षमें अपने अंदर धारण किया है, और यह काव्य एक ऐसे सौंदर्यात्मक मनकी कृति है जो दुर्लभतम आध्यात्मिक आत्मदर्शनके आश्चर्य और सौंदर्यको तथा आत्मा, परमात्मा और जगत्के गहनतम प्रोज्ज्वल सत्यको प्रकट करनेके लिये अपने साधारण क्षेत्रसे ऊपर उठकर उसके परे पहुंच गया है। यहां वैदिक ऋषियोंका अंतर्ज्ञानात्मक मन और अंतरंग आध्यात्मिक अनुभव उस परमोच्च परिणति-

को प्राप्त होता है जिसमें आत्मा, कठ उपनिषद्के शब्दोंमें, अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर देता है,[1] अपनी आत्म-अभिव्यक्तिकी ठेठ वाणीको प्रकाशित करता है और मनके समक्ष उन लयतालोंके स्पंदनको खोल देता है जो आध्यात्मिक 'श्रुति' में अपने-आपको भीतर ही भीतर दुहराते हुए अंतरात्माका गठन करते तथा उसे आत्मज्ञानके शिखरोंपर तृप्त और सर्वांगपूर्ण रूपमें प्रतिष्ठित करते प्रतीत होते हैं।

उपनिषदोंके इस स्वरूपपर अत्यधिक आग्रहपूर्वक बल देनेकी जरूरत है, क्योंकि विदेशी अनुवादक इसकी उपेक्षा करते हैं, वे चिंतनात्मक अंतर्दृष्टिके उस स्पंदन तथा आध्यात्मिक अनुभूतिके उस परमानंदको अनुभव किये बिना ही इनके बौद्धिक अर्थको प्रकट करनेका यत्न करते हैं जिन्होंने तब इन प्राचीन मंत्रोंको जन्म दिया था और जो आज भी उन लोगोंके लिये जो उस तत्त्वमें प्रवेश कर सकते हैं जिसमें ये मंत्र-वचन विचरण करते हैं, इन्हें केवल बुद्धिके लिये नहीं बल्कि अंतरात्मा और संपूर्ण सत्ताके लिये भी एक सत्यदर्शनका रूप दे देते हैं और, प्राचीन भाव-प्रकाशक शब्दके अनुसार, इन्हें बौद्धिक विचार और वचन ही नहीं बल्कि 'श्रुति' अर्थात् आध्यात्मिक श्रवण, एक ईश्वरप्रदत्त धर्मशास्त्र बना देते हैं। उपनिषदोंके दार्शनिक सारतत्त्वके मूल्यांकनपर आज और अधिक बल देनेकी कोई जरूरत नहीं; क्योंकि श्रेष्ठतम विचारकोंके द्वारा इसे दी गयी प्रचुरतम मान्यताका यदि अभाव भी होता तो भी दर्शनका संपूर्ण इतिहास अपनी साक्षी देनेके लिये उपस्थित होता। उपनिषदें अनेकानेक गहन दर्शनों और धर्मोंका सर्वसम्मत मूल स्रोत रही हैं। जिस प्रकार भारतकी बड़ी-बड़ी नदियां हिमालयकी गोदसे प्रवाहित हुईं उसी प्रकार उसके दर्शन और धर्म भी इस उपनिषद्-रूपी स्रोतसे प्रवाहित हुए और यहांके निवासियोंके मन और जीवनको उर्वर बनाते रहे तथा सदियोंकी सुदीर्घ परंपरातक इसकी अंतरात्माको सजीव बनाये रहे। प्रकाश पानेके लिये ये बराबर ही अक्षय-जीवनदायी धाराओंके इस स्रोतकी ओर मुड़ते रहे तथा नवीन प्रकाश देनेसे कभी भी नहीं चूके। बौद्धधर्म अपनी समस्त प्रगतियोंके साथ केवल उपनिषदोंके अनुभवके एक पक्षका ही पुनः प्रतिपादन मात्र था, चाहे था एक नये दृष्टिबिंदुसे तथा बौद्धिक परिभाषा और तर्कणाके नये शब्दोंमें और इसे वह इस प्रकार रूपमें बदलकर पर कदाचित् सारतत्त्वको परिवर्तित किये बिना संपूर्ण एशियामें और पश्चिममें यूरोपकी ओर ले गया। पाइथागोरस और प्लेटोकी चिंताधाराके अधिकतर भागमें उपनिषदोंके विचार ढूंढ़े जा सकते हैं और वे ही नव-प्लेटोवाद तथा ज्ञेयवाद तथा पश्चिमके दार्शनिक चिंतनपर इनका जो बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है उसका भी गहनतम भाग हैं, और सूफी-मत भी उन्हींको एक अन्य धार्मिक भाषामें दुहराता है। जर्मन दर्शनशास्त्रका अधिकतर भाग अपने सारतत्त्वमें उन महान् सत्योंके बौद्धिक विकाससे अधिक कुछ नहीं है जिन्हें इस प्राचीन शिक्षामें कहीं अधिक

[1]आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।––कठोपनिषद्

आध्यात्मिक रूपसे देखा गया था, और आधुनिक विचारधारा इन्हें एक ऐसी अधिक गंभीर, सजीव और तीव्र ग्रहणशीलताके साथ वेगपूर्वक आत्मसात् कर रही है जो दार्शनिक तथा धार्मिक दोनों प्रकारके चिंतनमें एक क्रांतिकी आशा बंधाती है; कहीं तो वे अनेक परोक्ष प्रभावोंके द्वारा छनछनकर पहुंच रहे हैं और कहीं प्रत्यक्ष और खुली प्रणालिकाओंके द्वारा शनैः-शनैः संचरित हो रहे हैं। ऐसा कोई प्रधान दार्शनिक विचार शायद ही हो जिसका प्रमाण या बीज या संकेत इन प्राचीन ग्रंथोंमें न मिल सके--इन ग्रंथोंमें जो कि एक विशेष मतके अनुसार उन विचारकोंकी कल्पनाएं हैं जिनका अतीत एक स्थूल, बर्बर, प्रकृतिपूजा-वादी और जड़चेतनवादी अज्ञानकी अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं था और न जिनके विचारकी पृष्ठभूमि ही इससे अधिक अच्छी थी। यहांतक देखनेमें आता है कि विज्ञानके अधिक व्यापक सिद्धांत भौतिक प्रकृतिके सत्यपर बराबर ही उन सूत्रोंका प्रयोग करते हैं जिन्हें भारतीय ऋषियोंने आत्माके गभीरतर सत्यके अंदर इनके मूल एवं विशालतम अर्थके रूपमें पहले ही आविष्कृत कर लिया था।

फिर भी ये कृतियां बौद्धिक ढंगकी दार्शनिक कल्पनाएं नहीं हैं, न ये कोई ऐसा तत्त्व-ज्ञान-संबंधी विश्लेषण हैं जो धारणाओंकी परिभाषा करने, विचारोंका चुनाव करने और उन-मेंसे जो यथार्थ हैं उन्हें विवेकद्वारा अलग करने, सत्यको तर्कसंगत रूप देने या फिर न्याय-शास्त्रीय तर्कणाके द्वारा मनकी बौद्धिक अभिरुचियोंका समर्थन करनेका यत्न करता है और जो तर्कबुद्धिके इस या उस विचारके प्रकाशमें विश्व-सत्ताका एकांगी समाधान प्रस्तुत करने तथा सभी वस्तुओंको उसी दृष्टिबिंदुसे, उसी प्रकाश-केंद्र और निर्धारक परिप्रेक्षितसे देखनेमें ही संतोष मानता है। यदि उपनिषदें इस ढंगकी रचना होतीं तो उनकी जीवनी-शक्ति ऐसी अक्षय न हो सकती, वे ऐसा अमोघ प्रभाव न डाल सकतीं, ऐसे परिणाम उत्पन्न न कर सकतीं, और न आज अपनी स्थापनाओंको अनुसंधानके अन्य क्षेत्रोंमें तथा (आध्यात्मिक विधियोंसे) सर्वथा विपरीत पद्धतियोंके द्वारा स्वतंत्र रूपसे समर्थित होते देख पातीं। क्योंकि इन ऋषियोंने सत्यको केवल विचारका विषय ही नहीं बनाया, वरंच सत्यको देखा था, अवश्य ही, उन्होंने उसे बोधिमूलक विचार एवं रहस्योत्पादक रूपकका एक सबल जामा पहनाया था और वह जामा भी उस आदर्श पारदर्शकतासे युक्त था जिसके द्वारा हम असीम-में झांकते हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयंभू-सत्ताके प्रकाशमें पदार्थोंकी छानबीन की और उन्हें 'अनंत'की आंखसे देखा, इसीलिये उनके शब्द सदाके लिये सजीव और अमर बने हुए हैं, एक अक्षय महत्त्व और अटल प्रामाण्य तथा एक ऐसी संतोषप्रद चरम निष्पत्तिसे संपन्न हैं जो साथ ही सत्यका एक असीम आदिमूल भी है जिसतक कि हमारी सभी अन्वेषण-पद्धतियां अपने लक्ष्यके अंततक जाती हुई फिरसे पहुंचती हैं और जिसकी ओर मानवजाति अपने महत्तम अंतर्दृष्टिसे संपन्न मनीषियों(की विचारधारामें) और युगोंमें बारंबार लौटती है। उपनिषदें वेदांत कहलाती हैं अर्थात् वे वेदोंकी भी अपेक्षा अधिक ऊंची मात्रामें 'नोलेज'

(knowledge) के ग्रंथ हैं, पर 'नोलेज' (knowledge) शब्द यहां 'ज्ञान' शब्दके गभीरतर भारतीय अर्थमें ही अभिप्रेत है। 'ज्ञान' का मतलब बुद्धिके द्वारा निरा सोचना-विचारना तथा बौद्धिक मनके द्वारा सत्यके किसी मानसिक रूपका अनुशीलन करके उसे अपनी पकड़में लाना नहीं है, बल्कि अंतरात्माके द्वारा उसे देखना तथा अंतःसत्ताकी शक्तिके द्वारा उसमें पूर्ण रूपसे निवास करना और ज्ञेयके साथ एक प्रकारके तादात्म्यके द्वारा उसे आध्यात्मिक रूपसे अपने अधिकारमें लाना है। और, क्योंकि आत्माके समग्र ज्ञानके द्वारा ही इस प्रकार-के प्रत्यक्ष ज्ञानको पूर्ण बनाया जा सकता है, इसलिये वैदांतिक ऋषियोंने आत्माको ही जानने, उसमें निवास करने तथा तादात्म्यके द्वारा उसके साथ एक हो जानेका यत्न किया। और इस प्रयत्नके द्वारा उन्हें सहज ही ज्ञात हो गया कि हमारे अंदर अवस्थित आत्मा और सब वस्तुओंकी विश्वव्यापी आत्मा एक ही हैं, और फिर यह आत्मा भी परमेश्वर एवं ब्रह्म, परात्पर पुरुष या सत्तासे अभिन्न है, और इस एकत्वमय तथा एक करनेवाले अंतर्दर्शनके प्रकाशके द्वारा उन्होंने जगत्‌की सब वस्तुओंके अंतरतम सत्यको तथा मनुष्यकी आंतर और बाह्य सत्ताके अंतरतम सत्यको देखा, अनुभव किया और उसमें निवास किया। उपनिषदें आत्मज्ञान, विश्वज्ञान और ईश्वरज्ञानके काव्यमय स्तोत्र हैं। दार्शनिक सत्यकी जिन महान् सूत्रावलियोंसे उपनिषदें भरी पड़ी हैं वे कोई अमूर्त बौद्धिक सिद्धांत नहीं हैं, ऐसी चीजें नहीं हैं जो चमक सकती और मनको आलोकित कर सकती हैं, पर अंतरात्माको जीवनमें मूर्त्ति-मंत नहीं करतीं और न उसे आरोहणकी ओर प्रेरित ही करती हैं, बल्कि वे बोधिमूलक तथा सत्योद्‌भासक ज्योतिकी उष्णता और प्रकाश हैं, एकमेव सत्, परात्पर भगवान् और दिव्य विश्वात्माकी प्राप्तियां और साक्षात् अनुभूतियां हैं और हैं इस महान् विश्व-अभिव्यक्तिमें पदार्थों और प्राणियोंके साथ उसके संबंधकी खोजें। अंतःप्रेरित ज्ञानके गीत होनेके कारण वे सभी स्तोत्रोंकी तरह धार्मिक अभीप्सा और हर्षोल्लासके स्वरको उच्छ्‌वसित करती हैं, उस संकीर्णतया तीव्र ढंगके स्वरको नहीं जो एक हीनतर धार्मिक भावका अपना विशेष गुण होता है बल्कि ऐसे स्वरको जो भक्तिकी किसी विशिष्ट प्रणाली एवं उसके विशेष रूपोंके परे भग-वान्‌के उस विश्वव्यापी आनंदकी ओर उठा हुआ होता है जो हमें स्वयंभू और विश्वव्यापी आत्माके पास पहुंचने और उसके साथ एक हो जानेसे प्राप्त होता है। और यद्यपि उन्हें मुख्यतया एक अंतर्दृष्टिसे मतलब है न कि सीधे तौरपर किसी बाह्य मानव कर्मसे, तथापि बौद्धधर्म और परवर्ती हिन्दूधर्मके समस्त उच्चतम आचार-नियम उन्हीं सत्योंकी प्राणवत्ता और सार-मर्मकी अभिव्यक्तियां हैं जिन्हें ये सुस्पष्ट रूप और शक्ति प्रदान करती हैं,--और वहां किसी भी नैतिक उपदेश एवं पुण्यसंबंधी मानसिक नियमसे कहीं बढ़कर कोई चीज है, वहां है आध्यात्मिक कर्मका एक परम आदर्श जो परमेश्वर तथा सब जीवोंके साथ प्राप्तव्य एकत्वपर प्रतिष्ठित है। इसी कारण जब वैदिक धर्मके विधि-विधानोंका जीवन समाप्त हो गया तब भी उपनिषदें सजीव और सर्जनक्षम बनी रहीं और महान् भक्तिप्रधान धर्मोंको जन्म देने

तथा धर्म-विषयक सुदृढ़ भारतीय विचारको प्रेरणा देनेमें समर्थ हुई।

उपनिषदें सत्यप्रकाशक और अंतर्ज्ञानात्मक मन तथा उसके प्रदीप्त अनुभवकी कृतियां हैं, और उनका समस्त सारतत्त्व, उनकी रचना, पदावलि, रूपकमाला और गतिधारा उनके इस मूल स्वरूपसे निर्धारित और प्रभावित हैं। ये परमोच्च और सर्व-संग्राहक सत्य, एकत्व, आत्मा और विश्वव्यापी भगवत्सत्ताके ये अंतर्दर्शन ऐसे संक्षिप्त और ठोस शब्दोंमें ढाले गये हैं जो इन्हें तुरंत ही अंतरात्माकी आंखके सामने ला खड़ा करते हैं और उसकी अभीप्सा तथा अनुभूतिके प्रति इन्हें वास्तविक तथा अपरिहार्य बना देते हैं या फिर ये काव्यमय वाक्योंमें व्यक्त किये गये हैं और वे वाक्य ऐसी सत्योद्भासक शक्ति एवं संकेतपूर्ण विचार-छटासे पूर्ण हैं जो एक सांत रूपकके द्वारा संपूर्ण अनंतको प्रकट कर देती हैं। 'एकमेव' वहां साक्षात् रूपमें प्रकाशित हो उठा है, पर साथ ही उसके अनेक पक्ष भी उद्‌घाटित हो गये हैं, और उनमेंसे प्रत्येकको भाव-प्रकाशनकी प्रचुरताके द्वारा अपना संपूर्ण अर्थ एवं महत्त्व प्राप्त हो गया है और प्रत्येक शब्द तथा समस्त वचनकी प्रकाशप्रद यथार्थताके द्वारा वह मानों एक सहजस्फूर्त आत्म-उपलब्धिमें अपना स्थान और संबंध पा लेता है। तत्त्वज्ञानके विशालतम सत्यों और मनोवैज्ञानिक अनुभवकी सूक्ष्मतम सूक्ष्मताओंको अंतःप्रेरित गतिधारामें समाविष्ट करके सत्यदर्शी मनके लिये यथार्थ और साथ ही उपलब्ध करनेवाली आत्माके लिये अंतहीन संकेतसे परिपूर्ण बना दिया गया है। यहां ऐसे कई एक पृथक्-पृथक् वचन, स्वतंत्र श्लोकार्ध और संक्षिप्त प्रकरण हैं जिनमेंसे प्रत्येकके अंदर अपने-आपमें एक बृहत् दर्शनका सार निहित है और फिर भी प्रत्येकको अनंत आत्मज्ञानके एक पहलू, पक्ष किंवा अंशके रूपमें ही प्रकट किया गया है। यहां सभी कुछ एक घनीभूत एवं अर्थगर्भित और फिर भी पूर्ण रूपसे विशद और उज्ज्वल सार-संक्षेप तथा अपरिमेय परिपूर्णता है। इस प्रकारका विचार न्याय-शास्त्रीय बुद्धिके मंद, सतर्क और सुविस्तृत विवेचनक्रमका अनुसरण नहीं कर सकता। किसी एक प्रकरण, वाक्य, श्लोकार्ध, पंक्ति, यहांतक कि आधी पंक्तिके बाद जब कोई दूसरा प्रकरण, वाक्य आदि आता है तो उन दोनोंके बीच कुछ अंतराल होता है जो एक अप्रकटित विचार तथा गूंजती हुई नीरवतासे भरा रहता है, यह विचार उस समग्र संकेतमें धारित रहता है और स्वयं उस प्रतिपादन-क्रममें भी यह अंतर्निहित रहता है परंतु अपने लाभके लिये इसे पूर्ण रूपसे कार्यान्वित करनेका कार्य मनके ऊपर छोड़ दिया जाता है, और अर्थगर्भित नीरवता-के ये अंतराल विशाल होते हैं, इस विचारके कदम एक असुरके डगोंके समान होते हैं जो असीम सागरके आरपार जानेके लिये एक चट्टानसे दूरकी चट्टानपर लंबे-लंबे कदम भरता है। प्रत्येक उपनिषद्‌की रचनामें एक प्रकारकी पूर्ण समग्रता है, सामंजस्यपूर्ण भागोंका एक व्यापक संबंध है; परंतु यह सब एक ऐसे मनके तरीकेसे कार्यान्वित किया गया है जो एक ही साथ सत्यके समूहके समूह देखता है और केवल परिपूरित नीरवतामेंसे अपेक्षित (भाव-द्योतक) शब्द-को ही निकाल लानेके लिये प्रतीक्षा करता है। पद्य या पद्यात्मक गद्यका स्वर-ताल विचार

और पदावलिके शिल्पके साथ मेल खाता है। उपनिषदोंके छंदोंके रूप चार अर्ध-पंक्तियोंसे गठित हैं जिनमेंसे प्रत्येक स्पष्ट रूपमें सुघड़ है, पंक्तियां प्रायः अपने-आपमें पूर्ण तथा अर्थमें समग्रतासे युक्त हैं, अर्द्ध-पंक्तियां दो विचारों या एक ही विचारके विभिन्न भागोंको प्रस्तुत करती हैं जो एक दूसरेके साथ गुंथे हुए हैं तथा एक दूसरेको पूर्ण बनाते हैं, और ध्वनि-लहरी भी इसी प्रकारके सिद्धांतका अनुसरण करती है, प्रत्येक पद संक्षिप्त है तथा उसमें विराम-स्थल का संकेत स्पष्ट रूपसे मिल जाता है, वह गूंजनेवाले सुरोंसे भरा हुआ है जो आंतर श्रुतिमें देरतक झंकृत होते रहते हैं : प्रत्येक पद मानों अनंतकी एक तरंग हो जो महा-सागरके संपूर्ण गर्जन और वृत्तांतको अपने अंदर वहन करती है। यह एक प्रकारका काव्य है,—अंतर्दृष्टिसे प्राप्त शब्द एवं आत्माका लयताल है,—जो इससे पहले या इसके बाद फिर कभी नहीं लिखा गया है।

उपनिषदोंके रूपक अधिकांशमें वेदके रूपकोंकी शैलीसे ही विकसित हुए हैं और यद्यपि साधारणतः वे सीधे प्रकाश देनेवाले रूपककी खुली हुई स्पष्टताको अधिक पसंद करते हैं तथापि बहुधा ही वे उन्हीं प्रतीकोंको एक ऐसे ढंगसे प्रयुक्त करते हैं जो प्राचीनतर प्रतीक-वादकी प्रणालीके मूलभाव तथा कम पारिभाषिक भागसे घनिष्ठ साम्य रखता है। बहुत हदतक इसी तत्त्वके कारण जिसे अब हमारी विचार-पद्धति नहीं पकड़ पाती, कुछेक पश्चिमी विद्वानोंकी बुद्धि चकरा गयी है और वे चिल्ला उठे हैं कि ये धर्मग्रंथ उदात्ततम दार्शनिक परिकल्पनाओं तथा मनुष्यजातिके शिशु-मनकी आदिम भद्दी तुतलाहटोंका मिश्रण हैं। उप-निषदें वैदिक मन और उसके स्वभाव तथा मूलभूत विचारोंसे क्रांतिकारी रूपमें पृथक् नहीं हो गयी हैं, बल्कि ये उनका विस्तार और विकास हैं तथा, कुछ हदतक तो, एक परिवर्द्धन-कारी रूपांतर भी हैं—इस अर्थमें कि प्रतीकात्मक वैदिक भाषामें जो कुछ एक रहस्य एवं 'गुह्य'के रूपमें छिपाकर रखा गया था उसे ये स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट करती हैं। ये वेद और ब्राह्मणोंके रूपकों तथा कर्मकांडीय प्रतीकोंको लेकर चलती हैं और उन्हें इस ढंगसे मोड़ देती हैं कि वे एक आंतरिक एवं गुह्य आशयको प्रकट कर सकें जो (आशय) फिर इनके अपने अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं अधिक शुद्ध-आध्यात्मिक दर्शनके लिये एक प्रकारके आंतरा-त्मिक आरंभ-बिंदुका काम करे। कई स्थल, विशेषकर गद्यात्मक उपनिषदोंमें, ऐसे हैं जो पूर्णतया इसी प्रकारके हैं और वे एक गूढ़ शैलीमें, जो आधुनिक बुद्धिके लिये अस्पष्ट और यहांतक कि दुर्बोध है, वैदिक धार्मिक मनमें विद्यमान तत्कालीन विचारोंके आंतरात्मिक भाव, वेदत्रयीके पारस्परिक भेद, तीन लोकों तथा इसी प्रकारके अन्य विषयोंका विवेचन करते हैं; परंतु चूंकि उपनिषदोंकी विचारशृंखलामें ये स्थल गभीरतम आध्यात्मिक सत्योंकी ओर ले जाते हैं अतएव हम इन्हें एक ऐसी बुद्धिकी मूर्खतापूर्ण भूलें कहकर इनका खंडन नहीं कर सकते जिसे कुछ भी समझ नहीं है या जिसका उस उच्चतर विचारसे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं जिसमें ये प्रकरण परिसमाप्त होते हैं। इसके विपरीत, जब एक बार हम इनके

प्रतीकात्मक अर्थके भीतर प्रवेश कर पाते हैं तो हम देखते हैं कि ये काफी गहरे अर्थसे परिपूर्ण हैं। वह अर्थ एक चैत्य-आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर मनोभौतिक सत्ताके आरोहण करनेपर प्रकट होता है; और उस ज्ञानके लिये हम आज अधिक बौद्धिक तथा कम मूर्त्त और कम रूपकात्मक शब्दोंका प्रयोग करेंगे, पर जो लोग योगका अभ्यास करते तथा हमारी मनोभौतिक और चैत्य-आध्यात्मिक सत्ताके रहस्योंकी फिरसे खोज करते हैं उनके लिये वह ज्ञान आज भी अकाट्य सत्य है। चैत्य सत्योंको इस प्रकार अनोखे ढंगसे प्रकट करनेवाले कुछ एक विशिष्ट स्थल ये हैं——अजातशत्रुकी की हुई निद्रा और स्वप्नकी व्याख्या, या प्रश्न उपनिषद्के वे प्रकरण जिनमें प्राण-तत्त्व और उसकी क्रियाओंका वर्णन किया गया है, अथवा वे प्रकरण जिनमें देवासुर-संग्रामके वैदिक विचारका निरूपण करके उसे आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया गया है और ऋग्वेद तथा सामवेदकी अपेक्षा अधिक खुले रूपमें वैदिक देवताओंका स्वरूप उनके आभ्यंतरिक व्यापार एवं उनकी आध्यात्मिक शक्तिकी दृष्टिसे निरूपित किया गया है और उनके इसी रूपमें उनका आवाहन भी किया गया है।

वैदिक विचार और रूपकके इस प्रकारके विकासके उदाहरणके रूपमें मैं तैत्तिरीय उपनिषद्का एक संदर्भ उद्धृत कर सकता हूं जिसमें इंद्र स्पष्ट ही दिव्य मनकी शक्ति एवं उसके देवता प्रतीत होते हैं:

"जो वेदोंका विश्वरूप वृषभ है, जो अमर सत्तासे पवित्र छंदोंके रूपमें उत्पन्न हुआ था,—ऐसा वह इंद्र मुझे मेधाके द्वारा तृप्त करे! हे देव! मैं अमर सत्ताका आधार बन जाऊं! मेरा शरीर अंतर्दृष्टिसे परिपूर्ण हो उठे और मेरी वाणी मधुरतासे, मैं अपने श्रोत्रोंसे भूरि और बृहत् श्रवण कर सकूं! क्योंकि, तू ब्रह्मका कोष है जो मेधाके द्वारा गोपित और आच्छादित है।"[1]

——इसी प्रकारका एक स्थल ईशसे भी उद्धृत किया जा सकता है जिसमें सूर्य (देवता) का ज्ञानके देवताके रूपमें आवाहन किया गया है। इनका परम ज्योतिर्मय रूप है भागवत आत्माका एकत्व और यहां मनके स्तरपर छितरी हुई उनकी किरणें विचारात्मक मनका भास्वर विकिरण हैं और वे उनके अपने असीम अतिमानसिक सत्यको, इस सूर्यके बाह्य और आंतर स्वरूपको एवं आत्मा और सनातनके सत्यको आच्छादित कर देती हैं:

"सत्यका मुख सुनहले ढक्कनसे आच्छादित है: हे पोषणकर्ता सूर्य, सत्य-धर्मकी उपलब्धिके लिये तथा अंतर्दृष्टिके लिये उस आवरणको दूर कर दे। हे पूषन्, हे एकमात्र ऋषे,

[1]तैत्तिरीय ४. १।

हे नियामक यम, हे सूर्य, हे प्रजापतिके पुत्र, अपनी किरणोंको व्यवस्थित और एकत्रित कर : मैं उस तेजको देख रहा हूं जो तेरा सर्वाधिक कल्याणमय रूप है, जो यह है, यह पुरुष है, वही मैं हूं।"[1]

—भेदके होते हुए भी इन स्थलोंका वेदकी रूपकमाला एवं शैलीसे संबंध स्पष्ट ही है और इनमेंसे अंतिम संदर्भ, निःसंदेह, अत्रियोंके एक वैदिक मंत्रकी पीछेकी अधिक उन्मुक्त शैलीमें व्याख्या या अनुवाद करता है:

"तुम्हारे सत्यके द्वारा वह परम सत्य आच्छादित है जो कि वहां नित्य-शाश्वत रूपसे विद्यमान है जहां वे सूर्यके घोड़ोंको खोलते हैं। वहां वे दशसहस्र एक साथ स्थित हैं, वह है एकमेव : मैंने देहधारी देवोंके परम देवको देख लिया है।"[2]

—ये वैदिक और वैदांतिक रूपक हमारी वर्तमान मनोवृत्तिके लिये जो प्रतीकके जीवंत सत्यमें विश्वास नहीं करती, विजातीय हैं, क्योंकि बुद्धिके द्वारा निरुत्साहित किये जानेके कारण सत्योद्भासक कल्पना-शक्तिमें अब इस बातका साहस नहीं रहा है कि वह आंतरात्मिक और आध्यात्मिक अंतर्दर्शनको स्वीकार करे तथा उसके साथ अपनेको एकाकार करके निर्भयतापूर्वक उसे साकार रूप प्रदान करे; पर, निश्चय ही, यह एक बालिश या आदिम एवं बर्बर रहस्यवाद होनेसे कोसों दूर है; बल्कि यह विशद, सजीव और उज्ज्वल-काव्यात्मक बोधिमूलक भाषा एक अत्यंत विकसित आध्यात्मिक संस्कृतिकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

उपनिषदोंकी अंतर्ज्ञानात्मक विचारधारा इन मूर्त रूपकोंको लेकर चलती है और ये प्रतीक, जो पहले वैदिक ऋषियोंके लिये गुप्त क्रांतदर्शी शब्द थे और जो एक द्रष्टाके मनके संमुख ही अपना भाव पूर्ण रूपसे प्रकाशित करते थे, पर साधारण बुद्धिके लिये अपने गभीरतम अर्थको छुपाये ही रखते थे, इन रूपकोंका संबंध अपेक्षाकृत कम गुप्त रूपसे भाव प्रकाशित करनेवाली भाषाके साथ जोड़ देते हैं और इनसे परे एक अन्य बहुत अधिक स्पष्ट और उदात्त रूपकमाला एवं भाषातक पहुंच जाते हैं जो आध्यात्मिक सत्यको तुरंत ही उसके संपूर्ण वैभव समेत प्रकाशित कर देती है। गद्यात्मक उपनिषदोंसे हमें पता चलता है कि प्राचीन भारतीय मनकी यह पद्धति उस समय क्रियाशील थी, यह वहां पहले प्रतीकका प्रयोग करती है और फिर उसे अतिक्रम कर आध्यात्मिक अर्थको स्पष्ट रूपमें व्यक्त कर देती है। गुह्य अक्षर ॐके प्रभाव और गूढ़ार्थके विषयमें प्रश्न उपनिषद्का एक प्रकरण इस पद्धतिकी प्राचीनतर अवस्थाको निर्दशित करता है:

---

[1]ईशोपनिषद् १५-१६। [2]ऋग्वेद ५. ६२. १।

"हे सत्यकाम, यह ॐ अक्षर पर और अपर ब्रह्म है। अतएव ज्ञानी मनुष्य ब्रह्मके इस धामके द्वारा इनमेंसे किसी एकको प्राप्त करता है। यदि कोई इसकी एक मात्रा (अ) का ध्यान करे तो उसके द्वारा वह ज्ञान लाभ करता है और इस लोकमें वह शीघ्र ही संपन्न हो जाता है। उसे ऋचाएं मनुष्यलोककी ओर ले जाती हैं और वहां तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धामें पूर्णता प्राप्त करके वह आत्माकी महिमाको अनुभव करता है। अब यदि वह दो मात्राओं (अ+उ) के द्वारा मनमें पूर्णता लाभ करे तो यजुर्वेदके मंत्र उसे ऊपर अंतरिक्षमें, सोमलोक (सोम देवताके चंद्रलोक) में ले जाते हैं। वह सोमलोकमें आत्माकी विभूतिको अनुभव करके फिर यहां लौट आता है। और फिर जो व्यक्ति तीन मात्राओं (अ+उ+म्) के द्वारा किंवा इस 'ॐ' अक्षर ही के द्वारा परम पुरुषका ध्यान करता है वह सूर्यरूपी तेजमें पूर्णता प्राप्त कर लेता है। जैसे सांप अपनी केंचुली उतार फेंकता है वैसे ही वह पाप और अशुभसे मुक्त हो जाता है और सामवेदके मंत्र उसे ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं। वह इस जीवसंकुल लोकसे (जीवघनसे) परात्पर पुरुषके दर्शन करता है जो इस देहपुरीमें विराजमान है। तीनों मात्राएं मृत्युसे उत्पीड़ित हैं, पर अब जब कि वे अविभक्त तथा परस्पर-संयुक्त रूपमें प्रयोगमें लायी जाती हैं तो उनके सर्वांगीण प्रयोगमें आत्माके बाह्य, आभ्यंतर और मध्यवर्ती कर्म समग्रता प्राप्त कर लेते हैं और आत्माको ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा वह चलायमान नहीं होती। यह लोक ऋचाओंके द्वारा (प्राप्त होता है), अंतरिक्ष (प्राप्त होता है) यजुर्मंत्रोंके द्वारा और साम-मंत्रोंके द्वारा वह लोक जिसका ज्ञान हमें ऋषिगण कराते हैं। ज्ञानी मनुष्य ओ३म्के द्वारा 'उस'के धामतक, 'उस'तक, पहुंच जाता है, यहांतक कि उस परम आत्मातक पहुंच जाता है जो शांत, अभय और अजरामर है।"[1]

--यहां प्रयुक्त किये गये प्रतीक अभी भी हमारी बुद्धिके लिये अस्पष्ट हैं, परंतु ऐसे संकेत दे दिये गये हैं जो असंदिग्ध रूपमें दर्शा देते हैं कि वे एक चैत्य अनुभवका निरूपण करते हैं जो आध्यात्मिक उपलब्धिकी विभिन्न अवस्थाओंकी ओर ले जाता है और हम देख सकते हैं कि ये अवस्थाएं तीन हैं--बाह्य, मानसिक और अतिमानसिक, और इनमेंसे अंतिमके फलस्वरूप एक परमोच्च पूर्णता प्राप्त होती है जो अमर आत्माकी प्रशांत नित्यतामें समस्त सत्ताके पूर्ण एवं समग्र कर्मकी अवस्था है। आगे चलकर मांडूक्य उपनिषद्में अन्य प्रतीकोंको त्याग दिया गया है और हम खुले रूपसे मर्ममें प्रवेश प्राप्त करते हैं। इसके बाद उस ज्ञानका उदय होता है जिसकी ओर आधुनिक विचारधारा अपनी अत्यंत भिन्न, बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक प्रणालीके द्वारा लौट रही है, वह ज्ञान यह है कि हमारी बाह्य भौतिक चेतनाकी क्रियाओंके पीछे एक अन्य, अंतःप्रच्छन्न,--अन्य और फिर भी अभिन्न--

---

[1]प्रश्नोपनिषद्--५वां प्रश्न।

चेतनाकी, जिसकी एक स्थूल क्रिया ही हमारा जाग्रत् मन है, क्रियाएं अपना कार्य कर रही हैं, और हमारी बाह्य चेतनाके ऊपर--शायद, हम फिर कहते हैं--एक आध्यात्मिक अतिचेतना है जिसमें, बहुत संभवतः, हमारी सत्ताकी उच्चतम अवस्था एवं उसका संपूर्ण रहस्य उपलब्ध हो सकता है। प्रश्न उपनिषद्के इस स्थलपर जब हम सूक्ष्मतापूर्वक दृष्टिपात करेंगे तो हम देखेंगे कि यह ज्ञान वहां पहलेसे ही विद्यमान है, और मेरी समझमें हम अत्यंत युक्तियुक्त रूपमें यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राचीन ऋषियोंके ये तथा इसी प्रकारके अन्य वचनोंको, तार्किक मनके लिये इनका रूप कैसा ही चकरानेवाला क्यों न हो, बालिश रहस्यवाद कहकर नहीं उड़ाया जा सकता, बल्कि ये उस चीजकी जिसे आज स्वयं तर्कबुद्धि भी अपनी पद्धतियोंसे सत्य सिद्ध कर रही है और ज्ञानके एक अत्यंत गभीर सत्य और वास्तविक सत्तत्त्वके रूपमें हमें दर्शा रही है, एक रूपकात्मक अभिव्यंजना हैं जो उस समयकी मनोवृत्तिके लिये स्वाभाविक ही थी।

पद्यात्मक उपनिषदें इस अत्यंत अर्थ-गर्भित प्रतीकवादको जारी रखती हैं पर इसे अपेक्षाकृत हलके भावमें लेकर चलती हैं और अपने बहुतसे श्लोकोंमें तो वे इस प्रकारके रूपकोंके परे जाकर खुले रूपमें अपना भाव प्रकाशित करती हैं। वहां मनुष्य और प्राणिमात्रमें, प्रकृतिमें और इस समस्त जगत् तथा अन्य जगतोंमें एवं सृष्टिमात्रसे परे अवस्थित आत्मा, परम पुरुष एवं परमेश्वरका, अमर, एकमेव एवं अनंतका खुला गुणगान किया गया है--उसकी नित्य परात्परताकी महिमाका और उसकी बहुविध आत्म-अभिव्यक्तिके वैभवका भी। धर्म और मृत्युके अधिष्ठातृ-देवता यमके द्वारा नचिकेताको दी गयी शिक्षाओंसे लिये गये कुछेक संदर्भ इन उपनिषदोंके स्वरूपपर कुछ प्रकाश डालनेके लिये पर्याप्त होंगे :

"यह अक्षर ॐ है। यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परम पुरुष है। जो इस अक्षर (अविनाशी) ॐ को जानता है, वह जो कुछ चाहता है, वह सब ही उसे प्राप्त हो जाता है। यह अवलंब सर्वश्रेष्ठ है, यह अवलंब उच्चतम है; और जब कोई मनुष्य इस अवलंबको जान लेता है, तो वह ब्रह्मलोकमें महीयान् हो जाता है। वह सर्वज्ञ न उत्पन्न होता है, न मरता है, न वह कहींसे संभूत हुआ है, न ही वह कोई-एक है। वह अज है, नित्य और शाश्वत है, वह पुराण पुरुष है, शरीरका वध होनेपर उसका वध नहीं होता . . .

"यह बैठा हुआ भी दूर-दूरकी यात्रा करता है, और सोता हुआ भी सब तरफ विचरता है। इस आनंदोन्मत्त देवको मेरे सिवा भला और कौन जान सकता है? इन अस्थिर शरीरोंमें अवस्थित इस अशरीरी, महान् और विभु आत्माको जानकर ज्ञानी मनुष्य फिर शोक नहीं करता। यह आत्मा न तो शिक्षा-दीक्षा या प्रवचनसे प्राप्त हो सकता है, न मेधासे और न बहुत विद्यासे : परम आत्मा जिसे वरण कर लेता है केवल वही इसे प्राप्त कर सकता है, और उसीके समक्ष यह आत्मा अपना वास्तविक स्वरूप प्रकाशित करता है। जो व्यक्ति

दुष्कर्मोंसे विरत नहीं हुआ है, जो स्थिर और समाहित नहीं है, जिसका मन शांत नहीं है वह केवल मस्तिष्कके ज्ञानके द्वारा उसे नहीं प्राप्त कर सकता। ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसके लिये अन्न हैं और मृत्यु जिसके प्रीतिभोजका मसाला है, वह कहां है इसे कौन जानता है? . .

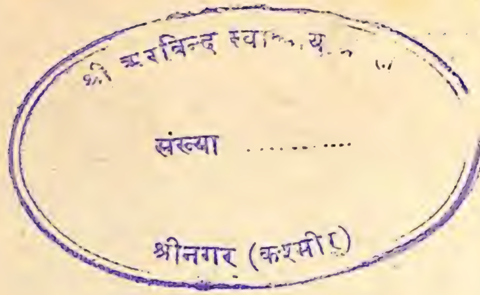
"स्वयंभूने मनुष्यके दरवाजोंको बाहरकी तरफ खोल दिया है, अतएव मनुष्य बाहरकी ओर देखता है अपनी अंतरात्माकी ओर नहीं: केवल कोई ज्ञानी मनुष्य ही, कहीं-कहीं, अमृतत्वकी आकांक्षा करता हुआ, अपनी आंखोंको अंदरकी ओर फेरता है और आत्माको प्रत्यक्ष देखता है। बालबुद्धि मनुष्य स्थूल कामनाओंके पीछे दौड़ते रहते हैं और मृत्युके जालमें जा फंसते हैं जो हमारे लिये खूब विस्तृत बिछा हुआ है; परंतु ज्ञानी लोग अमरता-को जान लेते हैं और अनित्य पदार्थोंसे नित्य वस्तुकी मांग नहीं करते। इस आत्माके द्वारा मनुष्य रूप, रस, गंध एवं स्पर्शको तथा इनके सुखोंको जानता है और तब भला यहां बाकी ही क्या रहता है? ज्ञानी मनुष्य उस महान् प्रभु एवं आत्माको जान जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति जागरित आत्मा तथा स्वाप्न आत्मामें विद्यमान सभी चीजोंको देखता है, और उसे जानकर वह फिर शोक नहीं करता। जो आत्माको, अर्थात् जीवधारियोंके निकटस्थ मधु (आनंद)-भोक्ताको, भूत और भविष्यके ईशको जान जाता है वह आगेको किसी भी सत् पदार्थसे जुगुप्सा नहीं करता। वह उसे भी जान जाता है जो पूर्वकालमें तपसे और जलोंसे उत्पन्न हुआ था और जो सत्ताकी गुप्त गुहामें प्रविष्ट होकर वहां इन सब प्राणियोंके साथ अवस्थित है। वह उसे भी जान जाता है जो प्राण-शक्तिके द्वारा उत्पन्न हुई है, उस सर्वदेवतामयी अदितिको (उस असीम माताको जिसमें सब देवता समाये हुए हैं) जान जाता है जो सत्ताकी गुप्त गुहामें प्रविष्ट होकर उसके अंदर इन सब प्राणियोंके साथ स्थित है। यह वह अग्नि है जो ज्ञानवान् है और यह दो अरणियोंमें अंतर्निहित है जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रियोंके अंदर गर्भ सुधृत रहता है; यह वह अग्नि है जिसकी उपासना लोगोंको अतंद्र रूपसे जागरूक रहते हुए तथा उसके प्रति हविकी भेंट लाते हुए अवश्यमेव करनी चाहिये। यह वह है जिससे सूर्य उदित होता है और जिसमें यह अस्त होता है: और उसीमें सभी देव प्रतिष्ठित हैं तथा कोई भी उसके परे नहीं जा सकता। जो कुछ यहां है, वही कुछ अन्य लोकोंमें है, और जो वहां है, उसीके अनुरूप यहांकी सभी चीजें (निर्मित) हैं। जो मनुष्य यहां केवल भेद ही भेद देखता है वह मृत्युसे मृत्युकी ओर जाता है। एक पुरुष जो अंगूठेसे बड़ा नहीं है मनुष्यकी सत्ताके केंद्रमें अवस्थित है और वह भूत तथा भविष्यका ईश है, और उसे जान लेनेपर मनुष्य आगेको किसी भी सत् पदार्थसे कतराता नहीं। वह 'पुरुष' मनुष्य-के अंगूठेसे बड़ा नहीं है और वह एक ऐसी ज्योतिके समान है जिसमें धूएंका नाम नहीं; वह भूत और भविष्यका ईश है; केवल वह ही आज है और वह ही कल रहेगा।"[१]

---

[१] कठोपनिषद् १. २. १५-२४

उपनिषदें ऐसे स्थलोंसे भरी पड़ी हैं जो एक साथ ही काव्य और आध्यात्मिक दर्शन हैं,—— पूर्ण विशदता और सुन्दरतासे संपन्न, परंतु उनका कोई भी अनुवाद जो अर्थ-ध्वनियोंसे तथा मूल शब्दों और लयोंके तात्पर्यकी गभीर, सूक्ष्म और उज्ज्वल गूंजोंसे शून्य हो, उनकी ओजस्विता और पूर्णताका कुछ भी आभास नहीं दे सकता। कुछ अन्य ऐसे स्थल भी हैं जिनमें सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य, काव्यमय अभिव्यंजनाके पूर्ण सौंदर्यसे विच्युत हुए बिना पूर्ण क्षमताके साथ व्यक्त किये गये हैं और इस बातको सदा लक्ष्यमें रखा गया है कि वे केवल समझनेवाली बुद्धिके समक्ष ही निरूपित होकर न रह जायं बल्कि अंतःकरण और अंतरात्माके प्रति भी जीवंत रूपमें उपस्थित रहें। कुछेक गद्यात्मक उपनिषदोंमें, एक दूसरा स्पष्ट कथात्मक और परंपराप्राप्त तत्त्व भी है; वह परमोच्च ज्ञानके लिये आध्यात्मिक जिज्ञासा और आतुरताकी उस असाधारण हलचल और प्रवृत्तिका एक जीता-जागता चित्र, संक्षिप्त झांकियोंके रूपमें ही सही, हमारे सामने उपस्थित करता है जिसने कि उपनिषदोंकी रचनाको संभव बनाया। प्राचीन जगत्के दृश्य इने-गिने पृष्ठोंमें हमारे सामने जीवंत-जागृत रूपमें उपस्थित हैं, आगंतुककी परीक्षा लेने और उसे शिक्षा देनेके लिये ऋषिगण अपने कुंजोंमें तैयार बैठे हैं; राजकुमार, विद्वान् ब्राह्मण और महान् कुलीन भूमिपति ज्ञानकी खोजमें यत्र-तत्र विचरण कर रहे हैं; रथपर सवार राजपुत्र और एक दासीका जारज पुत्र किसी ऐसे व्यक्तिको खोज रहे हैं जो अपने अंदर ज्योतिर्मय विचार और ईश्वरीय ज्ञानका शब्द धारण किये हुए हो; विशिष्ट और विख्यात व्यक्ति, जनक और सूक्ष्मचेता अजातशत्रु; गाड़ीवाला (सयुग्वा) रैक्व; सत्यवीर, शांत और व्यंग्यप्रिय याज्ञवल्क्य जो पहले अपने दोनों हाथोंमें बिना आसक्तिके सांसारिक धनसंपत्ति और आध्यात्मिक ऐश्वर्यको आयत्त कर लेते हैं और अंतमें अपना सब धन-वैभव पीछे छोड़कर एक अनिकेत संन्यासीकी तरह पर्यटनके लिये निकल पड़ते हैं; देवकीके पुत्र कृष्ण जिन्हें 'घोर' नामक ऋषिके एक ही शब्दके श्रवणमात्रसे तुरंत सनातन पुरुषका ज्ञान हो गया; आश्रम, उन राजाओंके दरबार जो अध्यात्मान्वेषी और अध्यात्मचिंतक भी थे, महान् यज्ञीय परिषदें जहां ऋषिगण एकत्र होते और परस्पर तुलना करके अपने ज्ञानकी परीक्षा करते थे। और हम देखते हैं कि किस प्रकार भारतकी अंतरात्माका जन्म हुआ और किस प्रकार इस महान् जन्म-गानका आविर्भाव हुआ जिसमें यह अपने पार्थिव आधारसे उड़ान भरकर आत्माके परमोच्च स्वर्गमें पहुंची। वेद और उपनिषदें केवल भारतीय दर्शन और धर्मके ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय कला, काव्य और साहित्यके भी पर्याप्त उद्गम-स्थान हैं। उनमें जो अंतरात्मा, स्वभाव एवं आदर्श मन रूपायित तथा व्यक्त हुआ उसीने आगे चलकर महान् दर्शनशास्त्रोंका सुघड़ निर्माण किया, धर्मका ढांचा तैयार किया, महाभारत और रामायणमें इसके शौर्यपूर्ण यौवन-कालका इतिवृत्त अंकित किया, इसकी मनुष्यताकी प्रौढ़ावस्थाके अत्युत्कृष्ट प्राचीन कालमें अक्लांत भावसे बौद्धिक रूप धारण किया, विज्ञानके क्षेत्रमें इतने सारे मौलिक अंतर्ज्ञानात्मक तथ्योंको प्रकट किया, सौंदर्यात्मक,

प्राणिक और ऐंद्रिय अनुभूतिकी इतनी समृद्ध छटा उत्पन्न की, तंत्र और पुराणमें इसके आध्यात्मिक और आंतरात्मिक अनुभवको नया रूप प्रदान किया, रंग और रेखाकी श्री-सुषमामें अपने-आपको उंडेल दिया, इसकी विचारधारा और अंतर्दृष्टिको प्रस्तर और कांसेमें खोदा और उकीरा, पीछेकी भाषाओंमें आत्म-अभिव्यंजनाकी नयी प्रणालिकाओंमें अपने-आपको ढाल दिया और वही अब ग्रहणसे मुक्त होनेके बाद पुनः उदित हो रही है, भेदमें भी सदैव पहले जैसी रहती हुई नये जीवन और नये सृजनके लिये तैयार हो रही है।



भारतीय संस्कृतिका समर्थन

बारहवां अध्याय

भारतीय साहित्य

इस प्रकार, वेद भारतीय संस्कृतिका आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक बीज है और उपनिषदें सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान एवं अनुभवके सत्यकी अभिव्यक्ति। यह सत्य ही सदा इस संस्कृतिका उच्चतम विचार एवं चरम ध्येय रहा है। इसी ध्येयकी ओर इसने व्यक्तिके जीवनको तथा जातिकी आत्माकी अभीप्साको प्रेरित किया : ये दो महान् पवित्र ग्रंथ इसकी काव्यमय और सर्जनशील आत्म-अभिव्यक्तिके सर्वप्रथम महत् प्रयत्नोंका फल हैं, ये विशुद्ध आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक मनकी भाषामें परिकल्पित एवं वर्णित हैं। इनकी रचना एक ऐसे कालमें हुई जिसके बाद पहले तो प्रबल एवं प्रचुर और फिर समृद्ध एवं अद्‌भुत बौद्धिक विकासका युग आया। इस तरहसे आरंभ हुए विकासके लिये यह आवश्यक ही था कि वह एक प्रकारके समृद्ध करनेवाले अवतरणके द्वारा ही आत्मासे जड़तत्त्वकी ओर अग्रसर हो और सबसे पहले बौद्धिक प्रयत्नकी अवस्थामेंसे गुजरे। इस अवस्थामें जीवन, जगत् और आत्माको तथा इनके सभी संबंधोंको उस रूपमें देखनेका यत्न करे जिस रूपमें ये तार्किक और व्यावहारिक बुद्धिके संमुख उपस्थित होते हैं। इस बौद्धिक प्रयासकी अधिक प्रारंभिक चेष्टाके साथ, स्वभावतः ही, जीवनका क्रियात्मक विकास एवं संगठन भी किया गया जो जातिके मन एवं आत्माको सचेतन रूपमें अभिव्यक्त करता था और साथ ही समाजका एक सुदृढ़ एवं सफल ढांचा भी खड़ा किया गया जिसकी रचनाका प्रयोजन था ज्ञानपूर्ण धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था और अनुशासनकी अधीनतामें मानवजीवनके पार्थिव उद्देश्योंको चरितार्थ करना, पर साथ ही मनुष्यकी आत्माको उसके विकासके लिये ऐसी सुविधा प्रदान करना कि वह इन चीजोंके द्वारा आध्यात्मिक स्वतंत्रता और पूर्णता प्राप्त कर सके। वेदों और उपनिषदोंके एकदम बाद भारतीय साहित्यिक सृजनका जो युग आया उसमें हमें

REVIEWS

THE GITA-NAVANEETA—TWO PARTS

By Swami Keshavadeva Acharya, Published by Sri Aurobindo Pustakalaya, Railway Road, Hapur, Dist. Meerut. Pages 264 and 260. Price half cloth bound Rs. 3/8 full cloth bound Rs. 4 each.

In this book the author has shown a masterly grasp of the philosophy of the upanishads, crystallised and synthetised in the Flute-Player's Song Divine. Sri Aurobindo's spirit is imperceptibly betrayed in the comprehensive thoroughness, exhaustiveness, depth of study, erudition, happy precision and choice of words, all richly employed and expressed in the logical interpretation and meaning of such a difficult theme as the Geeta.

While the Geeta explains the meaning of the Great Reality and shows the path to attain it, the Geeta-Navaneeta elucidates the beauty of compression, precision and brevity of the Geeta.

We are passing through a critical phase of history. The inner man is in desperate need of spiritual refuelling, which the Geeta alone can provide from its celestial flow of Knowledge. But how to dive into its depth, how to draw liberally on its vast resourcefulness—all regenerating and revitalising,—this the Geeta-navaneeta will teach.

PIONEER (LUCKNOW)

Sri Aurobindo's well-known book "Essays on the Gita" has evoked wide interest. The book under review is based on these valuable essays and the author, a former inmate of Sri Aurobindo Ashram, gives a close insight to the Hindi knowing world into Sri Aurobindo's approach to Gita, which is realisation of the Divinity in the soul of man, rising high above the elementary concepts and practices of religious dogmas. The book conveys the essence of Aurobindo's outlook on the Gita in chaste Hindi and fulfills the need to render the works of the master in the language of the common people.

HITAVADA (NAGPUR)

We welcome the second part of the *Gita-Navaneeta*, the first part of which was reviewed some time back in *Mother India*. That the reading public is also according a warm welcome to such a book proves at once that the author has succeeded in his work and that there is a hopeful reversal of taste for serious literature in the country.

The book under review begins with the question of the Avatar. The author, following the light of Sri Aurobindo, has dealt with almost all the

aspects of this difficult subject. What is an Avatar? what is the purpose of his descent? what are the criteria of his authenticity ? what are the different categories of the Avatara ? these are some of the points raised and elucidated in the book. Then there is an ample exposition of the nature of bhakti, which is both interesting and instructive. In the next chapter the reconciliation effected by the Gita between jnana, bhakti and karma has been ably expounded and is sure to be of particular interest to the modern mind. It is to be noted that this reconciliation is not a mental synthesis or an eclectic syncretism as propounded by some of the modern commentators of the Gita, but a fusion of the three principles in spiritual experience on the heights of the being, above the swaying interaction of the three gunas. It has been shown by the author that knowledge cannot be perfect and sovereignly creative in life until it is steeped in the resplendent soma of love and objectified and dynamised in action. Man possesses not only an intelligence and reason, but also a heart of emotion, and a will and power to act; and if any perfection on earth is destined for him, it can only be a perfection of his whole organism and his integrated personality. Knowledge or bhakti or karma by itself cannot certainly lead him to that integral perfection. The three are indispensable, not only as means to the realisation of the Supreme—the Supreme is not the Akshara, but the Purushottama—but also as a means of His manifestation in human life.

The author then explains the difference between the standpoints of the *Sankhya and the Gita*. The Gita's postulate of the three Purushas raises it far beyond the ken of the Sankhya and bridges the gulf between Purusha and Prakriti. With apt quotations from Sri Aurobindo the author has shown how the mutable and the Immutable are but twin aspects of the Ineffable Supreme who transcends and comprehends them both. He has also shown the deficiencies of the philosophies of Shankara and Ramanuja by a level-headed comparison of their respective view-points with the view-point of the Gita.

In the last three discursive chapters the author has covered a wide range of subjects from materialism and its crude conclusions, its recent orientation to vitalism, and its timid and tentative advances towards the Spirit, to the pressing problems of the modern world, the grim menace of universal destruction, and the way out of the present cultural *impasse* by the unreserved self-surrender of man to the supramental Light which has descended upon earth. God's prevenient Grace, it is affirmed, will heal and transform what ignorance and perversity have hurt and deformed.

The book is well-planned and lucidly written. It deserves to receive wide recognition among Hindi-knowing readers. It contains four fine photos of Sri Aurobindo and the Mother.

MOTHER INDIA (PONDICHERRY)

इसी अवस्थाका अत्यंत प्रचुर एवं प्रभावपूर्ण चित्रण मिलता है।

भारतीय मनकी इस प्रवृत्तिके अंदर जो अधिक चिंतनात्मक प्रयास था वह दो रूपोंमें प्रकट हुआ है——एक ओर तो है श्रमसाध्य दार्शनिक विचारधारा जिसने हमारे महान् दर्शन-शास्त्रोंका रूप धारण किया, और दूसरी ओर, वैयक्तिक और सामाजिक जीवनकी संगत एवं व्यवस्थित प्रणालीमें एक नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक आदर्श तथा व्यवहारको स्पष्ट रूपमें तथा कठोर दृढ़ताके साथ निर्धारित करनेका उतना ही प्रबल प्रयत्न। इस प्रयत्नके फलस्वरूप प्रामाणिक सामाजिक ग्रंथों या शास्त्रोंका निर्माण हुआ जिनमेंसे सर्वाधिक महान् एवं प्रामाणिक है——प्रसिद्ध मनुस्मृति। दार्शनिकोंका कार्य यह था कि आत्मा, मनुष्य और जगत्के जो सत्य अंतर्ज्ञान, ईश्वर-प्रेरणा एवं आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा पहलेसे ही उपलब्ध हो चुके थे और वेदों तथा उपनिषदोंमें लिपिबद्ध थे, उन्हें वे व्यवस्थित करके तर्कबुद्धिके सम्मुख सत्य सिद्ध करें और साथ ही इस ज्ञानपर प्रतिष्ठित कुछ ऐसी साधन-पद्धतियोंका निर्देश एवं क्रमबद्ध प्रतिपादन करें जिनसे मनुष्य अपने जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य चरितार्थ कर सके। जिस विशेष पद्धतिसे यह कार्य किया गया उससे पता चलता है कि उन दिनों अंत-र्ज्ञानात्मक मनकी क्रिया बौद्धिक मनकी क्रियामें परिणत हो रही थी और उस पद्धतिपर इस संक्रमणकालीन अवस्थाकी छाप मौजूद है और उसका आकार-प्रकार भी इसी अवस्थाको प्रकट करता है। जहां वेदादि पवित्र वाङमयके संक्षिप्त एवं अर्थगर्भित पद अंतर्ज्ञानात्मक सार-तत्त्वसे परिपूर्ण थे वहां दर्शनोंमें उनके स्थानपर और भी अधिक संहत एवं सघन लघु-वाक्य-शैलीका प्रयोग किया गया जो अंतर्ज्ञानात्मक तथा काव्यमय न होकर कठोर रूपसे बौद्धिक थी,——किसी सिद्धांतको, किसी दार्शनिक विचारके संपूर्ण विकास, या किसी तर्क-श्रृंखलाकी एक कड़ीको जो प्रचुर निष्कर्षोंसे भरपूर होती थी, गिने-चुने शब्दोंमें, कभी-कभी तो एक या दो ही शब्दोंमें, एक छोटेसे छोटे निश्चयात्मक सूत्रके रूपमें प्रकाशित किया जाता था जो अपनी घनीभूत पूर्णतामें प्रायः एक पहेली-सा ही होता था। ये सूत्र तर्कमूलक भाष्योंके आधार बने। जो कुछ भी प्रारंभमें इन सूत्रबद्ध ग्रंथोंमें निहित था उस सबको इन भाष्योंने दार्शनिक एवं तार्किक प्रणालीसे तथा नानाविध व्याख्याओंके द्वारा पल्लवित किया। मूल और अंतिम सत्यका तथा **मोक्ष**, अर्थात् आध्यात्मिक मुक्तिके उपायका प्रति-पादन करना ही इन सूत्रोंका एकमात्र विषय रहा है।

इसके विपरीत, सामाजिक चिंतकों और विधायकोंकी कृतिका विषय था लोकका सामान्य कार्य और व्यवहार। उसने मनुष्य और समाजके साधारण जीवनको एवं मानवीय कामना, लक्ष्य, 'अर्थ' और व्यवस्थाबद्ध नियम और रीति-रिवाजके जीवनको हाथमें लेकर वैसे ही पूर्ण और निश्चयात्मक ढंगसे उसकी व्याख्या और उसका निरूपण करनेका यत्न किया और साथ ही इस सबको राष्ट्रीय संस्कृति और रूपरेखाके नियामक विचारोंके साथ व्यवस्थित रूपमें संबद्ध करके एक सामाजिक प्रणालीको चिरस्थायी रूपमें प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की। इस

प्रणालीका निर्माण बुद्धिमत्ताके साथ, एक ऐसा आधार, ढांचा एवं क्रमव्यवस्था प्रदान करनेके लिये किया गया था जिसके द्वारा जीवन प्राणिक और मानसिक उद्देश्यसे आध्यात्मिक उद्देश्य-की ओर सुरक्षित रूपमें विकसित हो सके। प्रधान विचार यह था कि मानवीय 'काम' एवं 'अर्थ' को **धर्म**, अर्थात् सामाजिक और नैतिक विधानके द्वारा नियंत्रित किया जाय ताकि, समस्त प्राणिक, आर्थिक, सौंदर्यात्मक, सुखभोगवादी, बौद्धिक तथा अन्य आवश्यकताओंको यथोचित रूपमें और प्रकृतिके यथायथ विधानके अनुसार पूरा करते हुए, इसे (काम और अर्थको) आध्यात्मिक जीवनकी तैयारीका रूप दिया जा सके। यहां भी हमें एक प्रारंभिक विधानके रूपमें वैदिक गृह्यसूत्रोंकी सूत्रात्मक पद्धति दिखायी देती है और बादमें धर्मशास्त्रोंकी अधिक विस्तृत एवं पूर्णतर प्रणाली,—इनमेंसे पहली सरल और सारभूत सामाजिक-धार्मिक सिद्धांत और व्यवहारके संक्षिप्त निर्देशोंसे ही संतुष्ट हो जाती है, बादकी रचना व्यक्ति, वर्ग और जातिके संपूर्ण-जीवनको अपने अंदर समाविष्ट करनेका यत्न करती है। इस प्रयास और इसकी समग्रता-का निज स्वरूप तथा इस सबपर आद्योपांत शासन करनेवाले विचारकी अटूट एकता ही एक अत्युन्नत बौद्धिक, सौंदर्यात्मक और नैतिक चेतनाका तथा एक श्रेष्ठ और व्यवस्थित सभ्यता एवं संस्कृतिकी उच्च प्रवृत्ति और क्षमताका अद्भुत प्रमाण हैं। इसमें जिस बुद्धिने कार्य किया है एवं जो बोधग्राही और रचनात्मक शक्ति व्यक्त हुई है वह किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन जातिकी बुद्धि या शक्तिसे हीन कोटिकी नहीं है, और यहां परिकल्पनाकी एक प्रकारकी गभीरता, एकरस विशदता एवं श्रेष्ठता भी है, और वह, कम-से-कम, संस्कृति-विषयक किसी सच्ची धारणामें उस महत्तर नमनीयता, अधिक अभिज्ञतापूर्ण अनुभव और विज्ञान, तथा अनुभवप्राप्त साहसकी उत्सुक नमनशीलताको संतुलित कर देती है जो हमारी परवर्ती मानवताकी विशेषता सूचित करनेवाली प्राप्तियां हैं। कुछ भी हो, वह कोई बर्बर मन नहीं था जो समाजकी एक सुन्दर और संगठित व्यवस्थाकी ओर, उसका संचालन करनेवाले एक उच्च और विशद विचारकी ओर तथा जीवनके अंतमें महान् आध्यात्मिक पूर्णता और मुक्ति-की ओर इस प्रकार एकाग्रतापूर्वक ध्यान देता था।

इस युगके विशुद्ध साहित्यके प्रतिनिधि हैं दो बृहत् महाकाव्य, एक तो महाभारत जिसने अपनी विशाल रचनाके अंदर भारतीय मनकी अनेक शतियोंकी काव्यात्मक कृतिके अधि-कांशको संगृहीत किया और दूसरा रामायण। ये दोनों कविताएं अपने मूल हेतु और भावनामें महाकाव्यात्मक हैं, परंतु ये काव्य संसारके किन्हीं भी अन्य दो महाकाव्योंसे सादृश्य नहीं रखते, बल्कि सर्वथा अपने ही ढंगके हैं और अपने मूलतत्त्वमें दूसरोंसे सूक्ष्मतः भिन्न भी। यद्यपि इनमें एक प्राचीन वीरतापूर्ण कथा है और अनेक आदिम तत्त्वोंका एक रूपांतर है, फिर भी इनका रूप एक अत्युन्नत बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक संस्कृतिके युगसे संबंध रखता है, प्रौढ़ विचारोंके संघातसे समृद्ध है, नैतिक स्वरकी परिपक्व उदात्तता और परिष्कृत गंभीरताके कारण ऊंचा उठा हुआ है और अतएव ये कविताएं आइसलैंड (Iceland) द्वीपके प्राचीन और मध्य-

युगीन आदिम कविता-संग्रह और वीर-गाथावलि[1] (एड्डा और सागा, Edda and *S*aga) से सर्वथा भिन्न हैं और दृष्टिकोण तथा सारवस्तुकी विशालता और उद्देश्यकी उच्चतामें—अभी मैं सौंदर्यात्मक गुण और काव्यात्मक पूर्णताकी चर्चा नहीं करता—होमरकी कविताओंसे अधिक महान् हैं; इतना ही नहीं, अपितु इनमें एक प्राक्कालीन उच्छ्वास और प्रत्यक्ष एवं सरलतापूर्ण तेज भी है, जीवनकी ताजगी, महत्ता और प्रस्पंदना है और है ओज तथा सौंदर्य-की सरलता जो इन्हें वरजिल या मिल्टन अथवा फिरदौसी या कालिदासके श्रमपूर्वक विरचित साहित्यिक महाकाव्योंसे सर्वथा भिन्न प्रकारकी कृति बना देती है। जीवनकी प्राचीन, साहित्यिक, वेगशील और प्रबल शक्तिके स्वाभाविक उच्छ्वासका नैतिक, बौद्धिक, यहांतक कि दार्शनिक मनकी सबल प्रगति और सक्रियताके साथ यह अनूठा संमिश्रण, निश्चय ही, इनकी एक अद्भुत विशेषता है; ये कविताएं एक जातिके यौवनकी वाणी हैं, पर एक ऐसे यौवनकी जो केवल ताजा, सुन्दर और प्रफुल्ल ही नहीं है अपितु महान्, पूर्णताप्राप्त, ज्ञानमय और श्रेष्ठ भी है। तथापि यह केवल एक स्वभावगत विशेषता है: एक अन्य विशेषता भी है जो अधिक दूरगामी है, वह है संपूर्ण परिकल्पना, क्रिया-धारा और रचनामें भेद।

प्राचीन वैदिक शिक्षाके अनेक अंगोंमेंसे एक था महत्त्वपूर्ण परंपरा, **इतिहास**, का ज्ञान; प्राचीन समालोचक बादके साहित्यिक महाकाव्योंसे महाभारत और रामायणका भेद दिखलानेके लिये इसी ('इतिहास') शब्दका प्रयोग करते थे। इतिहासका मतलब था कोई प्राचीन ऐतिहासिक या उपाख्यानात्मक परंपरा जिसे एक अर्थपूर्ण गाथा या कथाके रूपमें सृजनके लिये प्रयुक्त किया जाता था और वह गाथा या कथा किसी आध्यात्मिक या धार्मिक अथवा नैतिक या आदर्शात्मक अर्थको प्रकट करती थी और इस प्रकार जातिके मनका गठन करती थी। महाभारत और रामायण भी बड़े पैमानेपर इसी प्रकारके इतिहास हैं जिनका उद्देश्य अत्यंत व्यापक है। जिन कवियोंने इन बृहत् काव्यमय ग्रंथोंकी रचना की और जिन्होंने इनमें कुछ चीजें जोड़ दीं उनका उद्देश्य केवल एक प्राचीन कथाका सुन्दर या श्रेष्ठ ढंगसे वर्णन करना नहीं था और न रस और भावके प्रचुर ऐश्वर्यसे परिपूर्ण कोई कविता रचना ही था, यद्यपि उन्होंने ये दोनों कार्य भी महान् सफलताके साथ संपन्न किये; पर वास्तवमें उन्होंने जीवनके शिल्पियों और मूर्तिकारों तथा राष्ट्रीय चिंतन, धर्म, नैतिकता और संस्कृतिके

---

[1]एड्डा (Edda) स्कैण्डिनेवियाकी दो पुस्तकोंका नाम है। पहलीको 'older' या 'elder' edda (प्राचीनतर या ज्येष्ठ एड्डा) कहते हैं जिसमें प्राचीन पौराणिक और वीररसपूर्ण गीतोंका संग्रह है, दूसरीको 'younger' or prose edda ('लघुतर' या गद्यात्मक एड्डा) कहते हैं जिसमें पौराणिक कहानियां आदि हैं।

सागा (Saga) आइसलैंड (Iceland) के प्राचीन गद्य-साहित्यमें पायी जानेवाली ऐतिहासिक या काल्पनिक कथाओंको कहते हैं।—अनु.

अर्थपूर्ण आकारोंके सर्जनशील व्याख्याकारों तथा निर्माताओंके रूपमें अपना कर्तव्य समझते हुए इनका प्रणयन किया। जीवन-विषयक चिंतनका गहरा दबाव, धर्म और समाजके संबंधमें एक व्यापक और जीवनप्रद दृष्टिकोण एवं दार्शनिक विचारका एक विशेष स्वर इन कविताओंमें सर्वत्र ओतप्रोत है और भारतकी समस्त प्राचीन संस्कृतिको बौद्धिक परिकल्पना और जीवंत निरूपणकी महान् शक्तिके साथ इनमें साकार रूप दिया गया है। महाभारतको पांचवां वेद कहा गया है, इन दोनों कविताओंके बारेमें यह कहा गया है कि ये केवल महान् कविताएं ही नहीं अपितु धर्मशास्त्र हैं, अर्थात् एक व्यापक धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक शिक्षाके ग्रंथ हैं और जातिके मन तथा जीवनपर इनका प्रभाव और प्रभुत्व इतने महान् रहे हैं कि इन्हें भारतवासियोंकी बाइबल कहा गया है। परंतु यह कोई बिलकुल ठीक उपमा नहीं है, क्योंकि भारतवासियोंकी बाइबलमें वेद और उपनिषदें, पुराण और तंत्र तथा धर्मशास्त्र भी समाविष्ट हैं, प्रादेशिक भाषाओंके धार्मिक काव्यकी बृहत् राशिकी बात तो अलग ही रही। इन महाकाव्योंका कार्य उच्च दार्शनिक और नैतिक विचार तथा सांस्कृतिक आचारको जनतामें प्रचलित करना था; भारतकी अंतरात्मा और विचारधारामें जो भी चीजें सर्वश्रेष्ठ थीं या जो उसके जीवनके लिये सच्ची थीं अथवा जो भी चीजें उसकी सर्जनशील कल्पना और उसके आदर्श मनके लिये वास्तविक थीं या फिर उसकी सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्कृतिके विशिष्ट स्वरूपको द्योतित करने तथा उसपर प्रकाश डालनेवाली थीं उन सबको सुस्पष्ट रूपमें, हृदयग्राही उभार और प्रभावके साथ एक महान् काव्यके ढांचेमें तथा एक काव्यात्मक कथाकी पृष्ठभूमिमें और उन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियोंके जो जनताके लिये स्थायी राष्ट्रीय स्मृतियां और प्रसिद्ध प्रतिनिधि-पुरुष बन गये थे, जीवन-केंद्रके चारों ओर प्रकट करना ही इन महाकाव्योंका कार्य था। इन सब चीजोंको एकत्र जुटाकर कलात्मक क्षमता और हृदयग्राही प्रभावके साथ एक ऐसे काव्य-संग्रहमें व्यवस्थित किया गया जो परंपराओंकी अभिव्यक्ति था। वे परंपराएं आधी काल्पनिक और आधी ऐतिहासिक थीं परंतु आगे चलकर लोगोंने उन्हें अत्यंत गंभीर और जीवंत सत्यके रूपमें तथा अपने धर्मके एक अंगकी न्याईं मूल्य प्रदान किया। इस प्रकार विरचित होकर महाभारत और रामायण, चाहे मूल संस्कृतमें हों या प्रादेशिक भाषाओंमें फिरसे लिखे गये हों, कथकों अर्थात् गानेवालों, पाठ करनेवालों और व्याख्या करनेवालोंके द्वारा, जनसाधारणतक पहुंचे, लोक-शिक्षा और लोक-संस्कृतिका एक मुख्य साधन बन गये और बने रहे, इन्होंने भारतवासियोंके विचार, चरित्र, सौंदर्यात्मक और धार्मिक मनका गठन किया और यहांतक कि अनपढ़ लोगोंपर भी दर्शन, नीतिशास्त्र, सामाजिक और राजनीतिक विचारों, सौंदर्यात्मक भाव, काव्य, गल्प और उपन्यासका एक प्रकारका पर्याप्त रंग चढ़ाया। जो चीज सुशिक्षित वर्गोंके लिये वेद और उपनिषद्में निहित थी, गंभीर दार्शनिक सूत्र और ग्रंथमें बंद या धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रमें प्रतिपादित थी उसे यहां सर्जनक्षम और सजीव अलंकारोंके रूपमें

प्रस्तुत किया गया था, किसी परिचित कहानी और उपाख्यानके साथ जोड़ दिया गया था और जीवनके विशद निरूपणमें घुला-मिला दिया गया था और इस तरह एक ऐसी घनिष्ठ एवं जीवंत शक्ति बना दिया गया था जिसे काव्यमय वचनके द्वारा सभी लोग सहजमें ही आत्मसात् कर सकते थे क्योंकि वह वचन एक ही साथ अंतरात्मा, कल्पना-शक्ति और बुद्धिको आकर्षित करता था।

विशेषकर महाभारत केवल भरतवंशियोंकी कथा ही नहीं है, न यह राष्ट्रीय परंपराका रूप ले लेनेवाली किसी प्राचीन घटनाका एक महाकाव्य ही है, बल्कि यह, एक बहुत बड़े पैमानेपर, भारतकी अंतरात्माका, उसके धार्मिक एवं नैतिक मन तथा सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों एव संस्कृति और जीवनका महाकाव्य है। इसके बारेमें एक उक्ति प्रसिद्ध है और उसमें कुछ हदतक सचाई भी है कि जो कुछ भी भारतमें है वह महाभारतमें भी है। महाभारत किसी एक ही व्यक्तिके मनकी नहीं बल्कि एक राष्ट्रके मनकी रचना एवं अभिव्यक्ति है; यह तो एक संपूर्ण जातिकी अपने विषयमें लिखी हुई कविता है। इसपर काव्य-कलाके उन नियमोंको लागू करना निरर्थक होगा जो एक अपेक्षाकृत छोटे तथा सीमित उद्देश्य-वाले महाकाव्यपर लागू हो सकते हैं, किंतु फिर भी इसकी सभी छोटी-मोटी बातों तथा इसकी संपूर्ण रचना दोनोंपर एक महान् और सर्वथा सचेतन कलाका प्रयोग किया गया है। संपूर्ण कविताकी रचना एक विशाल राष्ट्रीय मंदिरकी भांति की गयी है। वह (मंदिर) अपने कक्षोंमें अपने महान् और जटिल विचारको एक-एक करके, शनैः-शनैः अनावृत करता है, उसमें अर्थपूर्ण सामूहिक चित्रों, मूर्तियों तथा शिलालेखोंकी भरमार है, सामूहिक चित्र दैवी या अर्ध-दैवी परिमापके अनुसार अंकित किये गये हैं, वे एक ऐसी मानवताको अंकित करते हैं जो समुन्नत होकर अतिमानवताकी ओर आधी ऊंचाईतक ऊपर उठ चुकी है और फिर भी जो मानवीय उद्देश्य, विचार और भावके प्रति सदा सच्ची है, वहां यथार्थके सुरको आदर्शके स्वरोंके द्वारा निरंतर ऊंचा उठाया गया है, इस जगत्का जीवन भी विपुल परिमाणमें चित्रित किया गया है पर उसे पीछे अवस्थित जगतोंकी शक्तियोंके सचेतन प्रभाव और उपस्थितिके अधीन रखा गया है, और संपूर्ण कृतिको एक सुसंगत विचारकी जिसे काव्यमयी कहानीकी विशाल क्रम-परंपरामें गुंफित किया गया है, सुदीर्घ मूर्तिमंत शृंखलाके द्वारा एक अखंड इकाईका रूप दे दिया गया है। जैसा कि महाकाव्यात्मक आख्यानमें आवश्यक ही है, कथा-नककी धारा इस काव्यका प्रमुख आकर्षण है और इसे अंततक एक ऐसी गतिविधिके साथ निभाया गया है जो एक ही साथ व्यापक और सूक्ष्म है, अपनी समग्रतामें विशाल और सुस्पष्ट है, ब्योरोंमें आकर्षक और प्रभावशाली है तथा अपनी शैली और क्रमधारामें बराबर ही सरल, ओजस्वी और महाकाव्योचित है। यद्यपि इसका सारतत्त्व परम रोचक है और काव्यात्मक कथाके रूपमें इसकी वर्णन-शैली सजीव है पर इसके साथ ही यह इससे अधिक और कुछ भी है,—यह **इतिहास** है, अर्थात् एक अर्थपूर्ण कथा है जो आद्योपांत भारतीय

जीवन और संस्कृतिके केंद्रीय विचारों और आदर्शोंका प्रतिनिधित्व करती है। इसकी प्रमुख प्रेरणा है धर्म-विषयक भारतीय विचार। यहां सत्य, प्रकाश और एकताकी दिव्य शक्तियों और अंधकार, विभाजन तथा असत्यकी शक्तियोंके बीच चलनेवाले संग्रामके वैदिक विचारको आध्यात्मिक, धार्मिक और आभ्यंतरिक स्तरसे बाह्य बौद्धिक, नैतिक और प्राणिक स्तरपर ले आकर प्रकट किया गया है। वहां कथाके रूपकमें यह विचार एक वैयक्तिक और राजनीतिक संघर्षका दोहरा रूप धारण कर लेता है, वैयक्तिक संघर्ष तो भारतीय धर्मके महत्तर नैतिक आदर्शोंको मूर्तिमंत करनेवाले आदर्शस्वरूप और प्रतिनिधि-रूप व्यक्तियों तथा आसुरिक अहंकार, स्वेच्छा एवं धर्मके दुरुपयोगको मूर्त्तिमान् करनेवाले लोगोंके बीच है, राजनीतिक संघर्ष वह संग्राम है जिसमें वैयक्तिक संघर्षकी परिसमाप्ति होती है। वह एक अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष है जिसके अंतमें सत्य और न्यायके नये शासनकी, धर्मके राज्य अथवा साम्राज्यकी स्थापना होती है जो युद्ध करनेवाली जातियोंको एक करके राजाओं और उच्चश्रेणीय कुलोंकी महत्त्वाकांक्षापूर्ण उद्दंडताके स्थानपर न्यायपूर्ण और लोकोपकारी साम्राज्यकी प्रभुता, चैन और शांतिकी प्रतिष्ठा करता है। यह देव और असुरका, भगवान् और शैतानका चिरंतन संघर्ष है, पर यहां इसे मानवजीवनकी परिभाषाओंमें प्रस्तुत किया गया है।

(संघर्षके) इस दोहरे रूपको जिस ढंगसे प्रकट किया गया है, वैयक्तिक जीवनोंकी गतिविधिको जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है और राष्ट्रीय जीवनकी गतिविधिको पहले तो इनकी (वैयक्तिक जीवनोंकी) पृष्ठभूमिके रूपमें और फिर राज्यों, सेनाओं और राष्ट्रोंके कार्योंके रूपमें रंगमंचपर सामने लाकर जिस प्रकार दिखलाया गया है वह सब रचनाकी एक उच्च कोटिकी क्षमताको प्रकट करता है जो काव्यके क्षेत्रमें उस क्षमतासे मिलती-जुलती है जिसने भारतीय स्थापत्यमें कठिन कार्य किया, और इस संपूर्ण रचनाका निर्वाह एक विशाल काव्यात्मक कला और अंतर्दृष्टिके साथ किया गया है। यहां भी विशाल व्योमोंको एक समग्र दृष्टिमें समा लेनेकी वैसी ही शक्ति दिखायी देती है और उन्हें सूक्ष्म, प्रभावपूर्ण, सजीव तथा अर्थपूर्ण ब्योरेकी बहुलतासे भर देनेकी वैसी ही प्रवृत्ति भी। आख्यानके ढांचेमें अन्य कहानियों, दंतकथाओं और प्रसंगोंके एक बहुत बड़े अंशको भी समाविष्ट किया गया है और उनका अधिकांश एक ऐसे अर्थपूर्ण ढंगका है जो इतिहासकी पद्धतिके उपयुक्त है, और साथ ही दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारोंकी एक असाधारण राशि भी इसमें सम्मिलित की गयी है और वे विचार कभी तो सीधे और स्पष्ट रूपमें प्रतिपादित किये गये हैं और कभी किसी पौराणिक उपाख्यान और प्रासंगिक कथाके रूपमें ढालकर। उपनिषदों और महान् दर्शनोंके विचार बीच-बीचमें बराबर ही लाये गये हैं और कभी-कभी उन्हें नये रूपोंमें विकसित भी किया गया है, जैसे गीतामें; धार्मिक गाथा और कथा, भावना एवं शिक्षा इसके रेशे-रेशेमें ओतप्रोत हैं; जातिके नैतिक आदर्शोंको या तो स्पष्ट रूपमें वर्णित किया गया है या फिर उन्हें किसी कथा-उपकथाके आकारमें रूपांतरित और किसी कहानीके

पात्रोंमें मूर्तिमंत कर दिया गया है, राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों एवं प्रथाओंको भी इसी प्रकार अत्यंत सजीव और स्पष्ट रूपमें विकसित या चित्रित किया गया है और जनताके जीवनके साथ संबद्ध सौंदर्यात्मक तथा अन्य संकेतोंको भी स्थान दिया गया है। ये सब चीजें महाकाव्यके कथानकमें अद्‌भुत कुशलता और सूक्ष्मताके साथ गूंथी गयी हैं। ऐसी सम्मिलित और कठिन योजनामें तथा एक ऐसी रचनामें जिसके लिये विभिन्न योग्यतावाले अनेक कवियोंने योगदान किया है (शैली आदि संबंधी) कुछ विषमताओंका उत्पन्न हो जाना अनिवार्य ही था पर वे विषमताएं संपूर्ण योजनाकी व्यापक बृहत् जटिलतामें अपना-अपना स्थान प्राप्त कर लेती हैं और समग्र प्रभावमें बाधा न डालकर सहायता ही पहुंचाती हैं। यह संपूर्ण कृति एक जातिकी समग्र अंतरात्मा, विचारधारा और जीवनकी एक काव्यमय अभिव्यक्ति है जो अपनी ओजस्विता और पूर्णतामें अद्वितीय है।

रामायण भी मूलतः महाभारतसे मिलती-जुलती रचना है; भेद इतना ही है कि इसकी योजना अपेक्षाकृत अधिक सरल है, इसमें आदर्शात्मक प्रकृति अधिक सुकुमार है और काव्यात्मक ऊष्मा और रंगकी आभा अधिक सुंदर। यद्यपि इस कवितामें बहुत अधिक प्रक्षेप हुए हैं तथापि इसका अधिकांश, स्पष्टतः ही, एक ही व्यक्तिका रचा हुआ है और इसमें रचनाकी एकता कम जटिल एवं अधिक स्पष्ट है। इसमें दार्शनिककी मनोवृत्ति कम है और शुद्ध कविकी अधिक, इसमें कलाकार अधिक है, निर्माता कम। संपूर्ण कथा आदिसे अंततक बस एक ही है और उसमें कवि कथानककी धारासे कहीं भी अलग नहीं हटा है। साथ ही, यहां अंतर्दृष्टिकी वैसी ही विशालता है, परिकल्पनाकी महाकाव्योचित उदात्तताकी और भी अधिक उन्मुक्त उड़ान है और ब्योरेमें उस परिकल्पनाकी सूक्ष्म कार्यान्वितिकी सर्वत्र एकसी प्रचुरता है। महाभारतकी रचना-शक्ति, सशक्त कारीगरी और क्रम-पद्धति हमें भारतके गृह-शिल्पियोंकी कलाकी याद दिलाती हैं, रामायणकी रूपरेखाकी गरिमा और सुस्पष्टता, उसके रंगोंका वैभव और सूक्ष्म आलंकारिक विधान विशेषतः साहित्यमें भारतीय चित्रकलाकी भावना और शैलीकी छापको सूचित करते हैं। इस महाकाव्यके कविने भी अपनी रचनामें इतिहासको अर्थात् एक प्राचीन भारतीय वंशसे संबद्ध एक पुरातन कथा या आख्यायिकाको ही अपना विषय बनाया है और उसमें पौराणिक गाथा तथा लोक-कथाओंसे संगृहीत ब्योरों-को भर दिया है, परंतु इस सबको वे एक भव्य महाकाव्यात्मक चित्रणके स्तरपर उठा ले गये हैं ताकि यह उच्च उद्देश्य और मर्मको अधिक योग्यताके साथ वहन कर सके। इसका विषय महाभारतके जैसा ही है, पार्थिव जीवनमें दानवीय शक्तियोंके साथ दैवी शक्तियोंका संघर्ष, पर यहां इसे अधिक शुद्ध-आदर्शवादी रूपों तथा स्पष्टतः अतिलौकिक परिमाणमें प्रस्तुत किया गया है और मानव-चरित्रकी शुभ और अशुभ दोनों प्रकारकी वृत्तियोंको काल्पनिक रूपमें अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया है। एक ओर तो चित्रित है आदर्श मानवत्व, सद्‌गुण और नैतिक व्यवस्थाका दिव्य सौंदर्य एवं धर्मपर प्रतिष्ठित सभ्यता जो एक नैतिक

आदर्शके अत्युच्च रूपको चरितार्थ कर रही है, और उस आदर्शको भी सुरुचिपूर्ण सौंदर्य, सामंजस्य और माधुर्यके अपूर्वतया सबल आकर्षणके साथ प्रस्तुत किया गया है; दूसरी ओर हैं अमानुषी अहंकार और स्वेच्छा एवं उल्लासमयी हिंसाकी दुर्दांत, अराजकतापूर्ण और प्रायः अनिश्चित आकारवाली शक्तियां, और मानसिक प्रकृतिके इन दो विचारों और शक्तियों-को जीवंत और साकार रूप देकर इनका परस्पर संघर्ष कराया गया है और इसके चरम परिणामके रूपमें देवता-स्वरूप मानवकी राक्षसपर विजय दिखलायी गयी है। जो-जो छाया और जटिलता इस काव्यके प्रधान विचारकी ऐकांतिक शुद्धताको, पात्रोंकी रूपरेखामें प्रदर्शित प्रतिनिधि-रूप शक्तिको, स्वभावके विशिष्ट रंगके महत्त्वको क्षीण करतीं उन सबका परि-त्याग कर दिया गया है और उनके केवल उतने ही अंशको स्वीकार किया गया है जितना कि इसके आकर्षण और गूढार्थको मानवोचित रूप देनेके लिये पर्याप्त था। कवि हमें हमारे जीवनके पीछे विद्यमान अपरिमेय शक्तियोंसे अवगत कराते हैं और अपने घटनाक्रमको एक भव्य महाकाव्योचित दृश्यावलि––महान् राजकीय नगरी, पर्वत और सागर, वन और मरु-स्थल––के अंदर जड़ देते हैं। इन सब चीजोंका वर्णन ऐसे विस्तारके साथ किया गया है जिससे हमें अनुभव हो कि मानों संपूर्ण जगत् उनके काव्यका दृश्यपट है और इसका विषय है मनुष्यकी समस्त दैवी और आसुरी शक्यता जिसे कुछ एक महान् या दानवीय पात्रोंके रूपमें चित्रित किया गया है। यहां भारतका नैतिक और सौंदर्यरसिक मन एक सुसमंजस एकताके अंदर परस्पर घुल-मिलकर आत्म-अभिव्यंजनाकी अभूतपूर्व विशुद्ध व्यापकता और सुन्दरतातक पहुंच गये हैं। रामायणने भारतीय कल्पनाशक्तिके लिये इसके चरित्र-संबंधी उच्चतम और कोमलतम मानवीय आदर्शोंको मूर्त रूप प्रदान किया, बल, साहस, सज्जनता, पवित्रता, विश्वासपात्रता और आत्मोत्सर्गका परिचय इसे अत्यंत मनोरम और सुसमंजस रूपोंमें कराया और उन रूपोंको इस प्रकार रंग दिया कि वे भावावेग और सौंदर्य-भावनाको आकृष्ट कर सकें, नैतिक नियमोंको उसने एक ओर तो समस्त घृणाजनक कठोरताके और दूसरी ओर निरी सामान्यताके आवरणसे मुक्त कर दिया; और जीवनकी साधारण वस्तुओंको भी, पति-पत्नी, मां-बेटे और भाई-भाईके पारस्परिक प्रेमको, राजा और नेताके कर्तव्य और प्रजा तथा अनुयायीकी राजभक्ति एवं निष्ठाको, महान् व्यक्तियोंकी महत्ता और सरल लोगोंके सच्चे स्वरूप और मूल्यको एक प्रकारकी उच्च दिव्यता प्रदान की, अपने आदर्श रंगोंकी आभासे नैतिक वस्तुओंको रंगकर एक अधिक आंतरात्मिक अर्थका सौंदर्य प्रदान कर दिया। भारत-के सांस्कृतिक मानसको ढालनेमें वाल्मीकिकी कृतिने प्रायः एक अपरिमेय शक्तिसे युक्त साधन-के रूपमें कार्य किया है: इसने राम और सीता जैसे या फिर हनुमान, लक्ष्मण और भरत-सरीखे पात्रोंके रूपमें अपने नैतिक आदर्शोंकी सजीव मानव-प्रतिमूर्तियोंको उसके संमुख चित्रित किया है ताकि वह उनसे प्रेम कर सके और उनका अनुकरण कर सके; राम और सीताको तो इतनी दिव्यताके साथ तथा मूल सत्यकी ऐसी अभिव्यक्तिके साथ चित्रित किया गया है

कि वे स्थायी भक्ति और पूजाके पात्र बन गये हैं; हमारे राष्ट्रीय चरित्रके सर्वोत्तम और मधुरतम तत्त्वोंमेंसे बहुतोंका गठन इसीने किया है, और इसीने उसके अंदर उन सूक्ष्मतर और उत्कृष्ट पर सुदृढ़ आत्मिक स्वरोंको और उस अधिक सुकुमार मानव-प्रकृतिको उद्बुद्ध तथा प्रतिष्ठित किया है जो सद्‌गुण और आचार-व्यवहारके प्रचलित बाह्य अंगोंसे कहीं अधिक मल्यवान् वस्तुएं हैं।

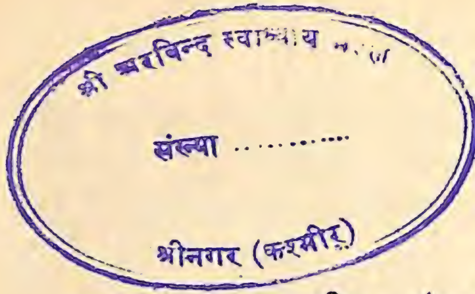
इन महाकाव्योंकी कवित्व-शैली इनके सारतत्त्वकी महानतासे निम्न कोटिकी नहीं है। जिस शैली और छंदमें ये लिखे गये हैं उनमें बराबर ही एक उदात्त महाकाव्योचित गुण है, उज्ज्वल उच्चकोटिक सरलता और स्पष्टता है जो अभिव्यंजनामें समृद्ध है पर है निरर्थक अलंकारोंसे रहित, इनमें एक वेगमय, ओजस्वी, नमनीय और प्रवाहशील छंद है जिसमें महा-काव्यका संगीत सदा ही निश्चित रूपसे विद्यमान रहता है। पर इन दोनोंकी भाषाकी प्रकृतियोंमें कुछ अंतर है। महाभारतकी अपनी विशिष्ट शब्दावलि प्रायः कठोर रूपसे पुरु-षत्वपूर्ण है, यह अपने आंतरिक आशयकी शक्ति और अपने मोड़की अंतःप्रेरित यथार्थतापर विश्वास रखती है, अपनी सादगी और स्पष्टतामें तथा बारंबार आनेवाली सुन्दर और सुखद अलंकारहीनतामें प्रायः कठोर रूपसे संयत है; यह ओजस्वी और आशु काव्य-प्रतिभाकी और महान् तथा सरल प्राण-शक्तिकी वाणी है, यह संक्षिप्त और प्रभावपूर्ण पदोंमें भाव प्रकाशित करती है पर ऐसा यह एकनिष्ठ सच्चाईके बलपर ही करती है और, कुछेक जटिल स्थलों या उपाख्यानोंको छोड़कर, यह विषयको संक्षिप्त करनेके लिये अलंकारोंका किसी प्रकारका श्रम-पूर्ण प्रयोग नहीं करती। यह भाषा-शैली दौड़नेवाले एक खिलाड़ीके उस हलके और पुष्ट तथा नग्न और निर्मल शरीरके समान है जिसमें स्वास्थ्यकी कांति और स्वच्छता तो है पर मांसकी निरर्थक वृद्धि या पेशियोंका अतिरिक्त उभार नहीं है और जो दौड़ लगानेमें तेज और फुर्तीला है तथा कभी थकता नहीं। इस विशाल काव्यमें ऐसी चीजें भी बहुत-सी हैं जो निम्न शैलीकी हैं और ऐसा होना अनिवार्य ही था, पर इसमें ऐसी चीजें बहुत ही कम हैं या हैं ही नहीं जो उस विशेष प्रकारके स्थिर स्तरसे नीचेकी हों जिसमें इस गुणका कुछ-न-कुछ अंश सदा ही विद्यमान रहता है। रामायणका शब्द-विन्यास एक अधिक आकर्षक सांचे-में ढाला गया है जो ओज और माधुर्यका एवं प्रसाद, ऊष्मा और लालित्यका एक आश्चर्य है; इसकी पदावलिमें केवल कवित्वका सत्य और महाकाव्यकी शक्ति एवं भाषाशैली ही नहीं है बल्कि विचार, भाव या विषयकी अनुभूतिका सतत अंतरंग स्पंदन भी है: इसके स्थायी ओजमें और इसकी शक्तिके स्थायी श्वासोच्छ्‌वासनें एक सुन्दर आदर्श सुकुमारताका तत्त्व भी है। दोनों काव्योंमें एक उच्च कवि-आत्मा और अंतःप्रेरित प्रज्ञा ही कार्य कर रही है: दोनोंमें ही वेद और उपनिषदोंका साक्षात्-अंतर्ज्ञानात्मक मन बौद्धिक और बाह्यतः-आंतरात्मिक कल्पनाके पर्देके पीछे चला गया है।

यही है इन महाकाव्योंका वह स्वरूप और ये ही हैं वे गुण जिनके कारण ये अमर हो

गये हैं, भारतकी श्रेष्ठतम साहित्यिक और सांस्कृतिक निधियोंमें परिगणित होते हैं और राष्ट्रके मनपर अपना स्थायी प्रभुत्व प्राप्त किये हुए हैं। ऐसी छोटी-मोटी त्रुटियों और विषमताओंको छोड़कर जैसी इस उच्च स्तरपर प्रस्तुत की गयी और इतने दीर्घकालीन प्रयासके द्वारा रची गयी सभी रचनाओंमें पायी ही जाती हैं, पाश्चात्य आलोचकोंके अन्य आक्षेप केवल मनोवृत्ति और सौंदर्यात्मक रुचिके भेदको ही प्रकट करते हैं। योजनाकी विशालता और ब्योरेकी सुविस्तृत सूक्ष्मता पश्चिमी मनको चकरा और थका देती हैं क्योंकि वह क्षुद्रतर सीमाओं और अधिक आसानीसे थकनेवाली दृष्टि और कल्पनाका आदी है तथा उसका जीवन जल्दबाजीसे भरा रहता है; परंतु ये दृष्टिकी उस विशालता और परिस्थिति-योंके प्रति उस एकाग्रतापूर्ण जिज्ञासाके अनुकूल पड़ती हैं जो भारतीय मनकी स्वभावगत विशेषताएं हैं। स्थापत्यकलाके प्रसंगमें मैं संकेत कर ही चुका हूं कि ये विशेषताएं सार्वभौम चेतना और उसकी दृष्टि, कल्पना तथा अनुभवसंबंधी क्रियाशीलताके स्वभावसे उत्पन्न होती हैं। (भारतीय और पश्चिमी मनोवृत्तिमें) दूसरा भेद यह है कि भारतमें पार्थिव जीवनको यथार्थवादी दृष्टिसे, अर्थात् ठीक वैसे रूपमें जैसा कि वह स्थूल मनके लिये होता है, नहीं देखा जाता बल्कि सदा ही उसे उसके पीछे अवस्थित बहुत-सी चीजोंके संपर्कमें रखकर देखा जाता है। भारतीय मनके अनुसार मनुष्यका कार्य-व्यापार महान्, दैवी, आसुरी और राक्षसी सत्ताओं और शक्तियोंसे घिरा होता है और उनसे प्रभावित होता है, और जगत्के अतिमहान् विशिष्ट व्यक्ति इन अधिक विराट् व्यक्तित्वों और शक्तियोंके एक प्रकारके अव-तार होते हैं। यह आक्षेप कि इससे व्यक्ति अपनी वैयक्तिक रुचि खो देता है और निर्व्य-क्तिक शक्तियोंकी कठपुतली बन जाता है न तो वास्तविक दृष्टिसे ठीक है और न इस साहित्यके कल्पनामूलक पात्रोंके यथार्थ रूपकी दृष्टिसे, क्योंकि वहां हम देखते हैं कि इसके द्वारा उन व्यक्तियोंकी कर्मकी महानता एवं शक्ति और भी बढ़ जाती है; निर्व्यक्तिकता उनके व्यक्तित्वकी क्रीड़ाको उच्च और उन्नत बनाती है और इस प्रकार इसके द्वारा वे ऊंचे ही उठते हैं। यहां लौकिक और अलौकिक प्रकृतिका जो सम्मिश्रण देखनेमें आता है वह कोई कोरी कल्पना नहीं है बल्कि वह पूर्ण सचाई और स्वाभाविकतासे युक्त है और इसके मूलमें वही उक्त धारणा काम कर रही है कि जीवनमें एक अधिक महान् सद्वस्तु विद्यमान है। यथार्थवादी आलोचक जिन बहुत-सी बातोंपर गलत और असंगत उग्रताके साथ आपत्ति करता है,——जैसे, तपस्यासे शक्तियोंकी प्राप्ति, दिव्य अस्त्रोंका प्रयोग, आंतरात्मिक कर्म और प्रभावके पुनः-पुनः संकेत,——उन्हें इस महत्तर सद्वस्तुके अर्थपूर्ण प्रतीक ही मानना होगा। इसी प्रकार, जहां सारा कार्य-कलाप ही साधारण मानवीय स्तरसे ऊंचे उठे हुए लोगोंका है वहां अतिशयोक्तिकी शिकायत भी समान रूपसे अयुक्तियुक्त ठहरती है, क्योंकि हम कविसे उन्हीं अनुपातोंकी मांग कर सकते हैं जो उसकी कल्पनामें आये हुए जीवन-स्तरके सत्यके साथ सुसंगत हों, हम उससे उन साधारण मापोंके प्रति कल्पना-विहीन निष्ठा रखनेके

लिये अनुरोध नहीं कर सकते जो यहां सर्वथा अप्रासंगिक होनेके कारण मिथ्या ही होंगे। इन महाकाव्योंके पात्रोंमें निर्जीवता और व्यक्तित्वहीनताकी शिकायत भी ऐसी ही निराधार है : राम और सीता, अर्जुन और युधिष्ठिर, भीष्म, दुर्योधन और कर्ण भारतीय मनके लिये तीव्र रूपमें वास्तविक, मानवीय और जीवंत-जाग्रत् हैं। हां, इतनी बात जरूर है कि भारतीय कलाकी ही भांति यहां भी, मुख्य बल चरित्रके बाह्य लक्षणोंपर नहीं दिया गया है, क्योंकि इनका प्रयोग तो चित्रणमें सहायता करनेवाले साधनोंकी न्याईं गौण रूपमें ही किया गया है, यहां तो मुख्य रूपसे अंतरात्माके जीवन तथा अंतरीय आत्मिक गुणपर ही बल दिया गया है और इन्हें रूपरेखाकी यथासंभव पूर्ण सजीवता, सबलता और शुद्धताके साथ निरूपित किया गया है। राम और सीता जैसे पात्रोंकी आदर्शवादिता कोई निर्जीव और निस्तेज अवास्तविकता नहीं है, उनमें आदर्श जीवनके सत्यकी सजीवता है, जिस महानताको मनुष्य प्राप्त कर सकता है और अपनी अंतरात्माको सुअवसर देकर प्राप्त कर ही लेता है उसके सत्यसे वे प्राणवंत हैं। इस आक्षेपमें कोई बल नहीं है कि उनमें हमारी साधारण प्रकृतिकी खंडित क्षुद्रताके लिये बहुत ही कम गुंजायश है।

सुतरां, ये महाकाव्य अपरिष्कृत पौराणिक आख्यानों और लोककथाओंका स्तूपमात्र नहीं हैं, जैसा कि अज्ञानपूर्वक आक्षेप किया जाता है, बल्कि जीवनके आभ्यंतरिक अर्थोंका अत्यंत कलात्मक चित्रण हैं, ओजस्वी और उदात्त चिंतनका, विकसित नैतिक और सौंदर्यरसिक मन तथा उच्च सामाजिक और राजनीतिक आदर्शका जीवंत निरूपण हैं और एक महान् संस्कृतिकी चैतन्यमयी मूर्त्ति हैं। जीवनकी ताजगीमें यूनानके महाकाव्योंके समान भरपूर किंतु विचार और सारतत्त्वमें उनसे अनंततः अधिक गभीर और विकसित, संस्कृतिकी परिपक्वतामें लैटिनके महाकाव्योंके समान समुन्नत पर ओज-गुणमें उनसे अधिक शक्तिशाली, प्राणवंत और यौवनपूर्ण ये भारतीय महाकाव्य एक अधिक महान् और पूर्ण राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कार्य-की पूर्तिके लिये रचे गये थे, इस प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी महानता और उत्कृष्टताका इससे प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है कि उच्च और निम्न तथा संस्कृत और सर्वसाधारण दोनों श्रेणियोंके लोगोंने इनका स्वागत किया है तथा इन्हें आत्मसात् किया है और बीस सदियोंसे ये बराबर ही संपूर्ण राष्ट्रके जीवनका अंतरंग और रचनात्मक भाग रहे हैं।



भारतीय संस्कृतिका समर्थन

तेरहवां अध्याय

भारतीय साहित्य

प्राचीन साहित्यका अत्युत्कृष्ट युग, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध और मूल्यवान् समझा जाता है, लगभग दस सदियोंतक और संभवतः इससे भी अधिक लंबे कालतक फैला हुआ है, और प्राचीन रचनाओंमें और इस युगके साहित्यमें स्पष्ट ही काफी बड़ा भेद दिखायी देता है और वह भेद सारतत्त्वमें उतना नहीं है जितना कि इसकी विचारधारा, प्रकृति और भाषाकी गठन और सुषमामें है। भारत-जाति और इसकी संस्कृतिका दिव्य शैशव, वीरतापूर्ण यौवन, उज्ज्वल और ऊर्जस्वी प्राचीन पुरुषत्व समाप्त हो जाते हैं और इनके स्थानपर एक दीर्घ-कालीन और समृद्ध प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है और इसके परिणामस्वरूप एक इतने ही समृद्ध और प्रचुर वैचित्र्यसे युक्त ह्रासका काल आता है। वह ह्रास मृत्युकी ओर नहीं बढ़ रहा है, क्योंकि उसके बाद दिखायी देता है एक विशेष प्रकारका नवयौवन, एक नया उपक्रम और पुनरावृत्त आरंभ, जिसका माध्यम अब संस्कृतभाषा न रहकर उससे निकली हुई भाषाएं, उसकी प्राकृतोंकी संतानें बन जाती हैं; ये भाषाएं साहित्यिक साधनोंके रूपमें उन्नत की जा चुकी हैं और जैसे-जैसे वह महान् और प्राचीन भाषा अपनी अंतिम शक्तियों और अनुप्रेरक जीवनको खोती जाती है वैसे-वैसे ये विकसित होती जा रही हैं। महाकाव्यों और भर्तृहरि तथा कालिदासकी भाषामें भावना और गठनकी दृष्टिसे विपुल भेद उत्पन्न हो चुका है और उसका कारण संभवतः बौद्धधर्मकी आरंभिक सदियोंके इतिहाससे समझमें आ सकता है जब कि संस्कृत ऐसी एकमात्र साहित्यिक भाषा नहीं रह गयी थी जिसे सभी शिक्षित जन समझते और बोलते हों और पाली इसकी सफल प्रतिस्पर्धिनी बनकर, कम-से-कम, राष्ट्रीय चिंतन और जीवनकी धाराके अधिकांशकी अभिव्यक्तिके एक साधनके रूपमें प्रकट हो चुकी थी। महाकाव्योंकी भाषा और गतिधारामें सीधे ही जीवनके मूल-स्रोतोंसे प्रवाहित होनेवाली वाणीका समस्त ओज, स्वातंत्र्य, सहजस्फूर्त बल और आकर्षण है; कालि-दासकी भाषा एक पूर्णताप्राप्त कला है, बौद्धिक और सौंदर्यात्मक रचना है जो पूर्ण, सुचिंतित,

सुचारु अलंकारोंसे भूषित, एक मूर्तिके समान सुगठित, और एक तस्वीरके समान चित्रित है, यद्यपि उसमें सिद्धहस्त कौशल और युक्ति है पर अभी वह कृत्रिमतासे मुक्त है, और फिर भी बुद्धिके द्वारा श्रमपूर्वक विरचित एक सावधानतापूर्ण कला-कृति है। वह सतर्कतापूर्वक स्वाभाविक है, प्रथम जन्मजात प्रकृतिकी स्वयंस्फूर्त सहजताके द्वारा नहीं वरन् अभ्यास-अर्जित द्वितीय प्रकृतिकी सहजताकी संसिद्ध मुद्राके द्वारा। बादमें आनेवाले लेखकोंमें कौशल और युक्ति-कल्पनाके तत्त्व बढ़ जाते तथा प्रधानता प्राप्त कर लेते हैं, उनकी भाषा यद्यपि ओजस्वी और सुन्दर है, पर वह एक श्रमसिद्ध और सुविचारित रचना है और वह केवल सुशिक्षित श्रोतृवर्ग एवं उच्चकोटिके विद्वानोंको ही आकर्षित करती है। धार्मिक ग्रंथ, पुराण और तंत्र, एक अधिक गहरे तथा अभीतक तीव्र रूपमें जीवंत स्रोतसे प्रेरित होते हैं, अपनी सरलताके द्वारा एक अधिक व्यापक आकर्षणको अपना लक्ष्य बनाते हैं और इस प्रकार महा-काव्योंकी परंपराको कुछ कालके लिये कायम रखते हैं, परंतु उनकी सरलता एवं स्पष्टता अधिक प्राचीन कालकी स्वाभाविक सहजता नहीं वरन् एक संकल्प-सिद्ध गुण है। अंतमें संस्कृत पंडितोंकी भाषा बन जाती है और कुछ विशेष प्रकारके दार्शनिक, धार्मिक तथा विद्वत्तापूर्ण उद्देश्योंको छोड़कर जनताके जीवन और मनको व्यक्त करनेका मूल साधन नहीं रह जाती।

परंतु साहित्यिक भाषाका यह परिवर्तन, समस्त प्रेरक अवस्थाओंके होते हुए भी, हमारी संस्कृतिकी मनोवृत्तिके केंद्रके महान् परिवर्तनसे संबंध रखता है। केंद्र अभी भी आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक है और सदा ही ऐसा रहता है, पर अंदरकी अधिक कठोर वस्तुएं जरा पीछे हटकर पृष्ठभूमिमें स्थित होती दिखायी देती हैं, निःसंदेह वे सर्वमान्य समझी जाती हैं और शेष सब वस्तुओंपर छायी रहती हैं पर फिर भी अपने-आपको उनसे कुछ जुदा कर उन्हें उनके अपने विस्तार और लाभके लिये कार्य करने देती हैं। जो बाह्य शक्तियां स्पष्ट रूपमें सामने आ खड़ी होती हैं वे हैं जिज्ञासापूर्ण बुद्धि, प्राणिक आवेग, सौंदर्यप्रिय, शिष्टतापूर्वक क्रियाशील और सुखभोगात्मक ऐंद्रिय जीवन। यह तर्कमूलक दर्शन, विज्ञान, कला और उन्नत शिल्पोंका, कानून, राजनीति, व्यापार और उपनिवेशीकरणका, व्यवस्थित एवं समुन्नत प्रशासनोंसे युक्त बृहत् राज्यों और साम्राज्योंका, चिंतन और जीवनके सभी विभागोंमें शास्त्रोंके सूक्ष्म शासनका महान् युग है, जो भी चीजें चमक-दमकवाली, इंद्रिय-भोग्य और सुखप्रद हैं उन सबके उपभोगका, जो कुछ भी सोचा और जाना जा सकता था उस सबके विषयमें तर्क-वितर्क करनेका, जो कुछ भी बुद्धि और व्यवहारकी परिधिमें लाया जा सकता था उस सबको स्थिर और प्रणालीबद्ध रूप देनेका महायुग है,——भारतीय संस्कृति-का अत्यंत भव्य, वैभवशाली और गौरवपूर्ण राम-राज्य है।

इस युगमें जिस बौद्धिकताका प्रभुत्व है वह किसी प्रकार भी चंचल, संदेहवादी या निषेधात्मक नहीं है, बल्कि वह अत्यधिक अनुसंधानशील और सक्रिय है, आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक

और सामाजिक सत्यकी जिन महान् धाराओंका अतीतमें अन्वेषण और प्रतिपादन हो चुका था उन्हें वह स्वीकार करती है, पर साथ ही उनकी सब संभव शाखा-प्रशाखाओंको विकसित करने, पूर्ण बनाने, सूक्ष्मता और समग्रताके साथ जानने तथा विस्तारपूर्वक सर्वथा सुप्रतिष्ठित प्रणालीका नियत रूप देने और उन्हें गठित करनेके लिये तथा बुद्धि, इंद्रिय और जीवनको भरा-पूरा बनानेके लिये उत्सुक भी है। भारतीय धर्म, दर्शन और समाजके महान् आधार-भूत सिद्धांत और पद्धतियां उपलब्ध और प्रस्थापित हो चुकी हैं और भारतीय संस्कृतिके पग अब एक महत् परंपराकी बृहत्ता और संतोषकारी सुरक्षामें विचरण करते हैं; परंतु इन क्षेत्रोंमें तथा इनसे अत्यधिक विस्तृत प्रदेशमें सृजन और अनुसंधान करनेके लिये, महान् आरंभों, विज्ञान, शिल्प तथा साहित्यकी प्रबल प्रगतियों, और शुद्ध बौद्धिक तथा सौंदर्यबोधात्मक कार्य-कलापके स्वच्छंद विकासके लिये अभी भी बहुत अधिक गुंजायश है, प्राणिक सत्ताके सुखभोगों और भाविक सत्ताके संस्कार-परिष्कारके लिये और जीवनकी कला एवं तालबद्ध गतिविधिके विकासके लिये भी अभी विपुल क्षेत्र सामने पड़ा है। जीवन-क्षेत्रमें ऊंची बौद्धिकतासे रंगा हुआ एक प्राणिक दबाव तथा बहुमुखी रुचि देखनेमें आती है, एक बौद्धिक और साथ-ही-साथ प्राणिक एवं ऐंद्रिय-तुष्टिको प्रश्रय देना, इतना ही नहीं वरन् इससे भी आगे बढ़कर विषय-सुखकी स्थूल अनुभूतितकको खुले रूपमें प्राप्त करना——यह सब कुछ इस युगमें पाया जाता है, पर इस विषयोपभोगमें भी प्राच्य मनोवृत्तिके अनुसार एक प्रकारकी शिष्टता और व्यवस्था, सौंदर्यप्रिय संयमका तत्त्व एवं नियम-मर्यादाका पालन देखनेमें आता है जो सदा ही उस उद्दाम उच्छृङ्खलतासे बचाता है जिसकी शिकार अपेक्षाकृत कम संयमशील जातियां हुआ करती हैं। इस युगकी विशिष्ट, केंद्रीय क्रिया है बौद्धिक मनका खेल और सर्वत्र इसीकी प्रधानता पायी जाती है। इससे अधिक प्राचीन युगमें भारतीय मन और प्राण-तत्त्वके अनेक तार एकीभूत तथा अभेद्य हैं, वे एक अखंड और व्यापक झनकार हैं जिसे एक शक्तिशाली और विपुल पर सरल संगीतके लिये साधा गया है; यहां वे संग-संग अवस्थित——एक-दूसरेके साथ संबद्ध और सुसंगत, अद्भुत और जटिल, बहुलतया एक प्रतीत होते हैं। अंतर्ज्ञानात्मक मनकी सहजस्फूर्त एकताका स्थान विश्लेषण और संश्लेषण करनेवाली बुद्धिकी कृत्रिम एकता ले लेती है। कला और धर्ममें अभी भी आध्यात्मिक और अंतर्ज्ञानात्मक प्रेरणाकी प्रधानता है, परंतु साहित्यमें वह प्रेरणा उतनी प्रमुख नहीं है। धार्मिक और लौकिक ग्रंथोंमें एक निश्चित विभाजन कर दिया गया है जो पहलेके युगोंमें किसी महत्त्वपूर्ण मात्रामें विद्यमान नहीं था। महान् कवि और लेखकगण लौकिक साहित्यके रचयिता हैं और उनके ग्रंथोंके रामायण और महाभारतकी भांति जनताके अंतरंग धार्मिक और नैतिक मनका अंग बननेकी कोई संभावना नहीं। धार्मिक काव्यकी सरिता तो अलग पुराणों और तंत्रोंमें प्रवाहित हो रही है।

इस युगके महान् प्रतिनिधि-कवि हैं कालिदास। वह एक ऐसे आदर्श-रूपकी स्थापना

करते हैं जिसकी तैयारी उनके पहलेसे हो रही थी और जो उनके बाद भी सदियोंतक कायम रहा, अवश्य ही इस बीच उसमें थोड़े-बहुत साज-शृंगारकी वृद्धि तो अवश्य हुई पर सार-रूपमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनके काव्य एक विशेष प्रणाली और सार वस्तुका पूर्ण और सुसमंजस रूपमें निर्मित नमूना हैं; अन्य कवियोंने प्रतिभाके साथ सदा ही उस प्रणाली एवं सारतत्त्वको उसी प्रकारके रूपोंमें ढाला पर उनकी प्रतिभा अपनी क्षमतामें निम्न कोटिकी थी या फिर वह सुरतालकी दृष्टिसे कम संतुलित, कम निर्दोष और कम पूर्णांग थी। कालिदासके युगमें काव्यात्मक भाषाकी कला असाधारण पूर्णतातक पहुंच गयी थी। स्वयं काव्य एक ऐसी उच्च कोटिकी शिल्पकला बन चुका था जो अपने साधनोंको जानती थी, अपने करणोंका प्रयोग करते समय छोटी-मोटी बातोंमें भी अत्यंत सावधानता और सचाई बरतती थी, अपने शिल्पकौशलमें वास्तुकला, चित्रकारी और मूर्तिकलाके समान ही सतर्कता और यथार्थतासे काम लेती थी, रूपकी सुन्दरता और शक्तिको परिकल्पना, लक्ष्य और भावनाकी श्रेष्ठता और समृद्धताके समकक्ष तथा अपने रूप-विधानकी यथायथ पूर्णताको सौंदर्यात्मक अंतर्दृष्टि अथवा भाविक या ऐंद्रिय अपीलकी पूर्णताके समकक्ष बनानेके लिये सजग थी। अन्य कलाओंकी भांति और सच पूछो तो इस सारे युगकी समस्त मानवीय कार्यप्रवृत्तियोंकी भांति काव्य-कलामें भी एक शास्त्रकी, काव्यालोचनके एक सुसम्मत और सावधानतापूर्वक अनुसृत विज्ञान और कलाकी प्रतिष्ठा की गयी। वह कला एवं विज्ञान प्रणालीकी पूर्णताको गठित करनेवाली सभी चीजोंकी आलोचना करता तथा उन्हें सूत्रबद्ध करता था, वर्जनीय चीजोंका निर्धारण करता था, मूलतत्त्वों और संभावनाओंको जाननेके लिये अत्यंत इच्छुक था पर इसके लिये वह आदर्शमानों और मर्यादाओंके शासनके अधीन रहना पसंद करता था। उन आदर्श-मर्यादाओंकी कल्पना अतिरंजना या दोष-त्रुटि-रूपी समस्त प्रमादका निवारण करनेके उद्देश्यसे की गयी थी और इसलिये व्यवहारमें वे निकृष्ट या असावधानतापूर्ण, उतावली या अनियमित काव्यरचना करनेकी किसी प्रकारकी जरा-सी भी प्रवृत्तिके समान ही रचनाकी किसी प्रकारकी नियमहीनताके भी प्रतिकूल थीं, यद्यपि कविका कल्पना और स्वच्छंदताका जन्मसिद्ध अधिकार सिद्धांत-रूपमें स्वीकार किया गया था। कविसे आशा की जाती है कि वह अपनी कलाके विषयमें पूर्णतया सचेत हो, इसके आवश्यक नियमों तथा स्थिर एवं निश्चित मानदंड और प्रणालीसे उतनी ही बारीकीके साथ परिचित हो जितनी बारीकीके साथ चित्रकार और मूर्तिकार होता है और अपनी आलोचक बुद्धि एवं ज्ञानके द्वारा अपनी प्रतिभाकी उड़ानको नियंत्रित करे। काव्य-रचनाकी यह सतर्क कला अंतमें अत्यधिक मात्रामें एक कठोर परंपरा बन गयी, यह अलंकार-संबंधी युक्ति-कौशलकी अत्यधिक सराहना करती थी, यहांतक कि यूनानी काव्यके अलेग्जेंडरके समयके ह्रास-युगकी न्याईं, पंडितोंकी अत्यंत विलक्षण विकृतियोंके लिये भी स्वीकृति देती तथा उनकी प्रशंसा करती थी, पर अधिक प्राचीन कृतियोंमें साधारणतः ये त्रुटियां बिलकुल नहीं हैं या फिर ये केवल कभी-

कभी एवं कम ही पायी जाती हैं।

आजतक मानव मनने, कम-से-कम आर्य या सेमिटिक[1] जातियोंके मनने, विचार प्रकट करनेके जिन साधनोंका निर्माण किया है उनमेंसे विशुद्ध संस्कृत संभवतः सबसे अधिक अद्‌भुत रूपमें परिपूर्ण तथा सुयोग्य साधन है। यह अधिकतम संभव प्रसाद-गुणके द्वारा समुज्ज्वल है, यथायथताकी चरम सीमातक यथायथ है, अपनी वाक्य-रचनामें सदा ही संक्षिप्त और अपने सर्वश्रेष्ठ रूपमें परिमित शब्दोंका व्यवहार करनेवाली भी है, पर यह सब होते हुए भी यह श्री-हीन या निरलंकार कभी नहीं होती : इसमें गभीरताको स्पष्टतापर बलिदान नहीं किया गया है, बल्कि इसमें अर्थकी अंतर्गभित समृद्धता, उच्च ऐश्वर्य और सौंदर्यकी क्षमता तथा स्वर और भाषा-शैलीकी स्वाभाविक महत्ता है जो इसे प्राचीन कालसे परंपराद्वारा प्राप्त हुई है। समास-प्रचुर रचनाकी शक्तिका दुरुपयोग आगे चलकर गद्यके लिये घातक सिद्ध हुआ, परंतु प्राचीनतर गद्य और काव्यमें जहां समासका प्रयोग सीमित है, एक ऐसे संयत प्राचुर्यका वातावरण है जो संयमके द्वारा सबल हो उठा है और अपनी साधन-संपदाका अधिकतम उपयोग करनेमें और भी अधिक समर्थ हो गया है। प्राचीन श्रेष्ठ काव्यके महान्, सूक्ष्म और संगीतमय छंद ही जिनके नाम कल्पनाप्रधान, आकर्षक और सुन्दर हैं तथा जिनकी क्षमता बहुविध और रचना सतर्कतापूर्ण है, अपने-आपमें एक ऐसा सांचा हैं जो पूर्णताके लिये आग्रह करता है और निकृष्ट या फूहड़ कारीगरी या दोषपूर्ण लयतालकी संभावनाके लिये कदाचित् अवकाश ही नहीं देता। इस काव्यकलाकी इकाई है श्लोक, अर्थात् चार पादोंवाला एक स्वयंपूर्ण पद्य, और ऐसी आशा की जाती है, कि प्रत्येक श्लोक अपने-आपमें एक पूर्ण कलाकृति हो, किसी पदार्थ, दृश्य, विवरण, विचार, भावना, मनोदशा या भाव-तरंगकी सुसमंजस, विशद और असंदिग्ध अभिव्यक्ति हो जो स्वयं एक स्वतंत्र चित्रके रूपमें टिक सके; श्लोकोंकी शृंखलाको पूर्ण इकाईमें पूर्ण इकाईकी वृद्धिके द्वारा एक अविच्छिन्न विकास होना चाहिये और इस प्रकार संपूर्ण कविताको या एक लंबे काव्यके किसी सर्गको एक कलात्मक और संतोषप्रद रचना होना चाहिये तथा एकके बाद एक आनेवाले सर्गोंको होना चाहिये समग्र स्वर-सामंजस्यका निर्माण करनेवाली सुनिश्चित मूर्च्छनाओंका विकास। इसी तरहके सतर्कतापूर्ण कौशलके साथ रची हुई और अत्यंत सुसंस्कृत काव्य-रचना कालिदासके काव्यमें अपनी पूर्णताकी पराकाष्ठातक पहुंची थी।

इस उत्कर्षके मूलमें दो गुण काम कर रहे हैं और वे यहां इतनी बड़ी मात्रामें विद्यमान हैं जिसकी समानता केवल महान्‌से महान् विश्व-कवियोंकी कृतिमें ही मिल सकती है और उन कवियोंमें भी वे सदा इतनी एकरस समस्वरताके साथ संयुक्त नहीं दिखायी देते, न उन-

[1]लाल समुद्रके आसपास बसनेवाली, यहूदी, अरब, सीरियन, मिस्री आदि नयी-पुरानी जातियोंको सेमिटिक कहते हैं।—अनु०

में रूप-विधान और सारतत्त्वका इतना समुचित संयोग ही दीख पड़ता है। कालिदास मिल्टन और वरजिलके साथ सर्वश्रेष्ठ काव्य-कलाकारोंकी पंक्तिमें स्थान ग्रहण करते हैं और उनकी कलामें भावना और संवेदना उक्त अंग्रेज कविकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और सुकुमार है, तथा सहज-स्वाभाविक शक्तिका उच्छ्वास भी उक्त रोमन कविकी अपेक्षा अधिक महान् है और यह उसके रूप-विधानको जीवंत और अनुप्राणित करता है। साहित्यमें उनकी शैली-से अधिक पूर्ण और सुसमंजस शैली और कोई नहीं है, पूर्णतः समस्वर और उपयुक्त वाक्-शैलीका उनसे अधिक अंतःप्रेरित, सतर्क और सिद्धहस्त शिल्पी और कोई नहीं है, उनकी वाक्-शैलीमें शब्दोंका प्रयोग तो कम-से-कम किया गया है पर इसके साथ ही वहां एक सुदक्ष सहजता और दिव्य सुषमाकी पूर्णतम अनुभूति प्राप्त होती है, और वहां एक ऐसी सुन्दर अतिशयोक्तिका भी बहिष्कार नहीं किया गया है, जो 'अति' से खाली है, वहां तो सौंदर्यात्मक दृष्टिसे मूल्य रखनेवाली एक परिमार्जित संपदा है जो यथासंभव अधिक-से-अधिक मात्रा-में विद्यमान है। भाव-प्रकाशनकी सुसमंजस संक्षिप्तता——उसका एक भी शब्द, एक भी पद एवं स्वर निरर्थक नहीं होता——तथा जो ज्ञानपूर्ण और प्रचुर वैभव प्राचीनतर उच्चकोटिक कवियों-का ध्येय था उसका संपूर्ण बोध, इन दोनों चीजोंके कलात्मक संयोगको वह और किसीकी भी अपेक्षा अधिक पूर्ण रूपमें चरितार्थ करते हैं। किसी प्रकारकी अति किये बिना प्रत्येक पंक्ति और प्रत्येक पदको समृद्धतम रंग, मोहकता, आकर्षण और मूल्य, महत्ता या उत्कृष्टता अथवा ओजस्विता या मधुरता और सदा ही किसी प्रकार तथा यथोचित प्रकारके सौंदर्यकी पूर्णतम मात्रा प्रदान करनेमें उनके समान दिव्य कौशल और किसीमें नहीं है। उनका पद-संयोजन पद-चयनके समान ही उपयुक्त और प्रसादपूर्ण है। 'ऐंद्रिय' शब्दके उच्चतर अर्थमें वह सब कवियोंमें अत्यंत भव्य रूपमें ऐंद्रिय अर्थात् इंद्रियसुखवादी हैं, क्योंकि उन्हें अपने विषयकी स्पष्ट अंतर्दृष्टि एवं अनुभूति प्राप्त है, सुतरां उनकी ऐंद्रियता न तो लंपटता-पूर्ण है और न अभिभूतकारी ही, वरन् यह सदा ही संतोषप्रद तथा समुचित होती है, क्योंकि यह बुद्धिके पूर्ण बलसे तथा उस गंभीरता और ओजस्वितासे युक्त है जो कभी-कभी तो प्रत्यक्ष होती है और कभी-कभी सुन्दरताके अंदर छिपी हुई पर अलंकृत और चित्रित परिधानके भीतर भी पहचानी जा सकने योग्य होती है और क्योंकि यहां राजसी भोगके अंतस्तलमें एक राजोचित संयम निहित है। कालिदासको छंदपर जो परिपूर्ण अधिकार प्राप्त है वह भी उतना ही महान् है जितना कि उनका भाषा-शैलीपर प्राप्त परिपूर्ण अधिकार। यहां हमें प्रत्येक प्रकारके छंदमें संस्कृत-भाषाके शब्द-सामंजस्यकी सर्वाधिक पूर्ण उपलब्धियां देखनेको मिलती हैं (शुद्ध गीत्यात्मक स्वर-माधुरी तो केवल आगे चलकर, इस युगके अंतमें, जयदेव-जैसे दो-एक कवियोंमें ही पायी जाती है), वे शब्द-सामंजस्य सुन्दर स्वर-संगतियोंकी सतत सूक्ष्म गहनतापर और उस अर्थपूर्ण सुरतालके शिष्ट प्रयोगपर आधारित हैं जो संगीतके स्वरकी प्रवाहशील एकताको कभी भंग नहीं करता। और कालिदासके काव्यका दूसरा गुण

है सारतत्त्वकी अखूट पुष्कलता। विचार और सारतत्त्वके परिधानरूप शब्द और स्वरके पूर्ण सौंदर्यात्मक मूल्यको प्राप्त करनेके लिये सदा सतर्क रहते हुए वह इस बातकी ओर भी समान रूपसे सावधान रहते हैं कि स्वयं विचार और सारतत्त्व भी उच्च, ओजोमय या प्रचुर बौद्धिक, वर्णनात्मक या भावमय मूल्यसे संपन्न हों। उनकी परिकल्पना अपनी दृष्टिमें विशाल है यद्यपि इसमें प्राचीनतर कवियोंकी-सी वैश्व विशालता नहीं है, और साथ ही यह अपनी क्रियान्वितिके प्रत्येक पगपर अपने स्तरको कायम रखती है। अपनी साधन-सामग्रीका व्यवहार करनेमें इस कलाकारका हाथ कभी भूल-चूक नहीं करता,—हां, उनकी एक कृति[1] इस बातका अपवाद है जो रचनाके दोषसे विकृत है तथा उनकी कृतियोंमें सबसे कम महत्त्वपूर्ण है,—और जिस प्रकार उनकी लेखनीका स्पर्श महान् और सूक्ष्म होता है उसी प्रकार उनकी कल्पना भी सर्वदा ही अपने कार्यके उपयुक्त होती है।

ये परमोच्च काव्योचित गुण जिस कार्यके लिये प्रयुक्त किये गये वह, अपने बाह्य-रूप और प्रणालीमें भिन्न होनेपर भी, मूलतः बहुत कुछ वही था जो प्राचीनतर महाकाव्योंके द्वारा संपन्न किया गया था; वह था—उसके अपने युगके भारतीय मन, जीवन और संस्कृतिकी काव्यमय भाषामें व्याख्या करना तथा इन्हें अर्थपूर्ण रूपकों और अलंकारोंमें चित्रित करना। कालिदासके सात अद्यावधि जीवित काव्योंमेंसे प्रत्येक अपने ढंगसे, अपनी सीमाओंके भीतर तथा अपने स्तरपर एक अत्युत्कृष्ट कृति है और सातों ही काव्य एक भव्य और सूक्ष्मालंकार-युक्त चित्रमाला और लेखावलि है जिसका एकमात्र वास्तविक विषय भारतीय मानस, जीवन और संस्कृतिकी व्याख्या और चित्रण ही है। उनका मन विपुल वैभवका भंडार था, यह एक ही साथ एक ऐसे विद्वान् और पर्यवेक्षकका मन था जो अपने समयके समस्त ज्ञानसे संपन्न था, अपने समयके राजनीति-विज्ञान और विधिशास्त्र, समाज-विषयक धारणा, प्रणाली और उसके अंगोपांग, धर्म, गाथा-विज्ञान, दर्शन और कला-शास्त्रमें निष्णात था, राजदरबारोंके जीवनसे घनिष्ठ रूपमें परिचित तथा जनसाधारणके जीवनसे भी अभिज्ञ था, प्रकृतिके जीवनका, पशु-पक्षी, ऋतु, वृक्ष और पुष्पका, मनकी समस्त विद्या तथा नेत्रकी समस्त विद्याका व्यापक और अत्यंत सूक्ष्म रूपमें पर्यवलोकन करनेवाला था; और साथ ही यह मन सदैव एक महान् कवि और कलाकारका मन था। उनकी कृतिमें उस पांडित्य या 'अति' विद्वत्ताका स्पर्श नहीं है जो कि कुछ अन्य संस्कृत कवियोंकी कलाको विकृत करता है, वह जानते हैं कि अपनी सब सामग्रीको अपनी कलाकी भावनाके अधीन कैसे रखा जाय और कैसे विद्वान् तथा पर्यवेक्षकको कविके लिये साधन-सामग्रीका संग्रह करनेवालेसे अधिक कुछ न बनने दिया जाय। परंतु प्रमाण-सामग्रीका ऐश्वर्य सदा ही तैयार और उपलभ्य रहता है और उसे

---

[1]यहां लेखकका संकेत कालिदासके सर्वप्रथम अप्रौढ़ खंड-काव्य 'ऋतुसंहार' की ओर है।—अनु०

घटना, वर्णन तथा आनुषंगिक विचार और बाह्य-रचनाके अंगके रूपमें निरंतर ही स्थान दिया जाता है अथवा वह सामग्री बीच-बीचमें उन रूपकोंकी उज्ज्वल श्रृंखलामें घुस आती है जो भव्य श्लोकों, श्लोकार्धों और युग्मकोंकी सुदीर्घ मालाके रूपमें हमारे सामनेसे गुजरते हैं। भारत, उसके विशाल वन-पर्वत और मैदान और उनके निवासी, उसके नर-नारीगण और उसके जीवनकी परिस्थितियां, उसके जीव-जंतु, उसके नगर और ग्राम, उसके तपोवन, नदियां, खेत और बाग-बगीचे कालिदासके उपाख्यान, नाटक और प्रेम-काव्यकी पीठिका हैं। उन्होंने इस सबको देख रखा तथा अपने मनको इससे परिपूरित कर रखा है और अपनी वर्णन-शक्तिके समस्त ऐश्वर्यके साथ इसे हमारे सामने सजीव रूपसे चित्रित करनेमें वह कभी नहीं चूकते। भारतके नैतिक और पारिवारिक आदर्श, वनमें रहनेवाले या पर्वतोंपर ध्यान और तपमें संलग्न संन्यासीका जीवन और गृहस्थका जीवन, भारतके प्रसिद्ध रीति-रिवाज, सामाजिक आदर्श-मान और आचार-अनुष्ठान, उसके धार्मिक विचार, मत-विश्वास और प्रतीक उनके काव्योंकी शेष परिस्थितियों और वातावरणको प्रस्तुत करते हैं। देवताओं और राजाओंके उदात्त कार्य, मानवकी अधिक श्रेष्ठ या सुकुमार भावनाएं, स्त्रियोंका सौंदर्य और लावण्य, प्रेमी-प्रेमिकाओंका काम-परायण प्रेम, ऋतुओंकी परंपरा और प्रकृतिके दृश्य——ये उनके प्रिय विषय हैं।

अनुभवके कलासंबंधी, सुखभोगात्मक और ऐंद्रिय पक्षोंका वर्णन करनेमें वह अपने युगकी सच्ची संतान हैं और प्रधान रूपसे प्रेम-श्रृंगार, सौंदर्य, तथा जीवनके सुखके कवि हैं। उच्चतर वस्तुओंके लिये अपने प्रगाढ़ बौद्धिक अनुरागमें और ज्ञान, संस्कृति, धार्मिक विचार, नैतिक आदर्श, एवं तपोमय आत्म-प्रभुत्वकी महत्ताकी अत्यधिक सराहनामें भी वह अपने युग-का प्रतिनिधित्व करते हैं, और इन चीजोंको भी वह जीवनके सौंदर्य और आकर्षणका अंग बना देते हैं तथा इन्हें इसके पूर्ण और भव्य चित्रणके अत्युत्तम तत्त्वोंके रूपमें देखते हैं। उनकी समस्त कृतियोंके रेशे-रेशेमें यही चीज भरी है। उनका श्रेष्ठ साहित्यिक महाकाव्य, "**रघुवंश**", हमारी जातिकी उच्चतम धार्मिक और नैतिक संस्कृति तथा आदर्शोंके प्रतिनिधि-रूप प्राचीन राजाओंके एक वंशकी कथाका वर्णन करता है और इसके गूढ़ार्थोंको प्रायः चित्रात्मक रूपमें वर्णित भावना और कार्य-कलाप, श्रेष्ठ या सुन्दर विचार और वाणी तथा सजीव घटना, दृश्य और परिपार्श्वकी अद्‌भुत साज-सज्जासे परिवेष्टित करके उन्हें हमारे सामने प्रकट करता है। एक और असंपूर्ण महाकाव्य,[१] जो वैसे तो पूरे काव्यका एक बृहत् अंश ही है पर कविकी रचना-पद्धतिकी उत्कृष्टताके कारण, जहांतक कथानक दिया गया है वहां-तक, अपने-आपमें पूर्ण है, विषयकी दृष्टिसे देवताओंका एक पौराणिक उपाख्यान, देवासुर-संग्रामका चिरंतन प्रसंग है, जिसका समाधान यहां महादेव और महादेवी (पार्वती) के मिलन-के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, पर भाव-प्रकाशनकी दृष्टिसे यह काव्य प्रकृतिका तथा भारतके

---

[१]कुमारसंभव——अनु०

जन-जीवनका वर्णन है जिसे पावन हिमगिरिपर तथा महान् देवताओंके धाममें दिव्य महत्ता-तक उठा ले जाया गया है। उनके तीन नाटक[1] प्रेम-भावकी धुरीके चारों ओर चक्कर काटते हैं, पर उनमें भी जीवनके विवरण और चित्रणपर इसी प्रकारका बल दिया गया है। एक काव्य[2] भारतीय वर्षकी रंग-बिरंगी ऋतु-परंपराका रूपोद्घाटन करता है। एक और काव्य[3] मेघ-रूपी दूतको उत्तर भारतके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक ले जाता है, अपनी यात्रामें वह दूत इसकी सुदीर्घ दृश्यमालाको निहारता जाता है और इस काव्यका उपसंहार प्रेमके सजीव, सुकुमारतया ऐंद्रिय और भावप्रधान चित्रणके द्वारा किया गया है। विषयवस्तुके इन विविध विन्यासोंमें हम उस युगके भारतके मानस, उसकी परंपरा एवं भावना तथा उसके समृद्ध, सुन्दर और व्यवस्थित जीवनका एक अद्भुत ढंगका पूर्ण चित्र पाते हैं, उसकी अत्यंत गहनतम वस्तुओंका नहीं, क्योंकि इन्हें तो और कहीं खोजना होगा, बल्कि इसकी संस्कृतिके उस युगकी तत्कालीन अत्यंत विशिष्ट, बौद्धिक, प्राणिक और कलात्मक प्रवृत्तिका पूर्ण चित्र पाते हैं।

इस युगका शेष सारा काव्य अपनी शैलीमें मूलतः कालिदासके काव्यके ही समान है; क्योंकि व्यक्तिगत विभेदोंके होते हुए भी इसमें विचार-मानस और स्वभाव तथा सामान्य विषयसामग्री एवं काव्यप्रणाली वैसी ही है, और उसके अधिकांशमें ऊंची प्रतिभा या असाधारण गुण और वैशिष्टय है, भले ही उसमें वैसी पूर्णता, सुन्दरता और प्रौढ़ता न हो। भारवि और माघके साहित्यिक महाकाव्य[4] ह्रासकालके आरंभको द्योतित करते हैं। इस कालका लक्षण यह है कि रूप, पद्धति और शैलीका अलंकारशास्त्रीय और श्रमसाध्य आदर्श जो कवित्वकी प्रतिभापर एक भारी बोझ डाल देता है तथा अंतमें इसका दम घोटकर ही रहता है, रूढ़ि और परंपराकी बढ़ती हुई कृत्रिमता तथा रुचिके स्थूल दोष जो इस बातकी साक्षी देते हैं कि भाषा साहित्य-स्रष्टाके हाथोंसे निकलकर पंडित और विद्याभिमानीके अधिकारमें जानेवाली है——ये सब चीजें बलपूर्वक और अधिकाधिक दखल जमाती जाती हैं। माघकी कविता एक स्वाभाविक कृति होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक अलंकार-शास्त्रके नियमके द्वारा निर्मित एक कृत्रिम रचना है और वह श्रुतिमधुर अनुप्रास, जटिल विशेषाक्षरबंध[5] और कष्ट-

---

[1]अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय। [2]ऋतुसंहार।

[3]मेघदूत। [4]किरातार्जुनीय और शिशुपालवध।

[5]पद्यके आदिमें या आदि और अंतमें या आदि, मध्य और अंतमें विशेष-विशेष अक्षरोंको रखते हुए कृत्रिम ढंगकी जो रचना की जाती है उसे विशेषाक्षरबंध कहते हैं। ऐसे पद्यको एक विशेष ढंगसे सजाकर लिखनेपर एक विशेष प्रकारकी आकृति या चित्र बन सकता है। इसीलिये ऐसी काव्य-रचनाको चित्रकाव्य भी कहते हैं। इससे बननेवाली आकृति या चित्रके भेदके अनुसार इसके कई प्रकार होते हैं, जैसे——पद्मबंध, खड्गबंध, छत्रबंध, चमरबंध, मुरज-बंध आदि।——अनु०

साध्य श्लेषके अत्यंत निकृष्ट बालोचित प्रयोगोंको गुणोंके रूपमें प्रदर्शित करते हैं। भारवि ह्रासकालके प्रभावसे अपेक्षाकृत कम कलंकित हैं पर इससे सर्वथा मुक्त नहीं हैं, और इसके प्रभावके द्वारा वह अपनेको पथभ्रष्ट होने देते हैं और परिणामतः ऐसी बहुत-सी चीजोंमें जा भटकते हैं जो न तो उनकी प्रकृति और प्रतिभाके अनुकूल हैं और न अपने-आपमें सुन्दर या सत्य ही हैं। तथापि भारविमें गंभीर काव्यात्मक चिंतन, तथा वर्णनकी महाकाव्योचित उदात्तताके अत्युत्कृष्ट गुण हैं और माघमें ऐसे नैसर्गिक काव्योचित गुण हैं जिनसे उन्हें साहित्यमें अधिक गण्य-मान्य पद उपलब्ध हो सकता था यदि पांडित्य-प्रदर्शन उनके कवित्वमें व्याघात न पहुंचाता। प्रतिभामें रुचि और शैलीके दोषके इस मिश्रणमें प्राचीन युगके पर-वर्ती कवि एलिजाबेथ-कालीन कवियोंसे मिलते-जुलते हैं। भेद इतना ही है कि एलिजाबेथ-कालीन कवियोंमें तो असंगति एक स्थूल और अभीतक अपरिपक्व संस्कृतिका परिणाम है और प्राचीन भारतीय कवियोंमें एक अतिपक्व और ह्रासोन्मुख संस्कृतिका। तथापि वे संस्कृत साहित्यके इस युगके स्वरूपको, इसके गुणों पर साथ ही इसकी उन त्रुटियोंको भी अत्यंत सुस्पष्ट रूपसे प्रकट करते हैं जो कालिदासमें दृष्टिगत नहीं होतीं तथा उनकी प्रतिभा-की छटामें छिप जाती हैं।

यह काव्य प्रधान रूपसे उस विचारधारा और जीवन तथा उन वस्तुओंका एक परिपक्व तथा सुचिंतित काव्यात्मक चित्रण और आलोचन है जिनमें सभ्यताके अत्यंत उन्नत एवं बौद्धिक युगमें अभिजात और संस्कृत वर्गकी परंपरागत रुचि थी। इसमें सर्वत्र बुद्धिका प्राधान्य है और, जब यह बुद्धि एक ओर स्थित होकर शुद्ध विषयगत चित्रणके लिये अवकाश देती प्रतीत होती है तब, उसपर भी यह अपनी प्रतिमूर्तिकी छाप लगा देती है। प्राचीनतर महाकाव्यों-में विचार, धर्म, आचार-नीति और प्राणिक चेष्टाएं—ये सभी चीजें सबल रूपमें जीवनसे अनुप्राणित हैं; कवित्व-बुद्धि वहां क्रियाशील है पर वह सदा ही अपने कार्यमें तल्लीन है, अपने-आपको भूलकर अपने विषयके साथ एक हो गयी है, और यही चीज उनकी महान् सर्जन-शक्ति और जीवंत और काव्योचित सद्हृदयता और ओजस्विताका रहस्य है। बादके कवि भी इन्हीं चीजोंमें रुचि रखते हैं पर एक ऐसी तीव्र-चिंतनात्मक अनुभूति एवं समीक्षात्मक बुद्धिके साथ जो अपने विषयोंके संग निवास करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक सदा ही उनका निरीक्षण किया करती है। साहित्यिक महाकाव्योंमें जीवनका सच्चा स्पंदन बिलकुल नहीं है, है केवल उसका एक अविकल भव्य वर्णन। कवि ऐसी चित्रित घटनाओं, दृश्यों, ब्योरों, पात्रों और मनोवृत्तियोंकी सुंदर श्रृंखला हमारे सामनेसे गुजारता है जो समृद्ध रूपमें रंजित, यथार्थ और सजीव होती हैं तथा आंखके लिये विश्वासोत्पादक और आकर्षक भी, पर इस सौंदर्य एवं आकर्षणके होते हुए भी हमें शीघ्र ही अनुभव हो जाता है कि ये केवल प्राणयुक्त चित्र हैं। निःसंदेह, वस्तुओंको स्पष्ट रूपमें देखा गया है, पर कल्पनाकी अधिक बाहरी आंखके द्वारा ही, कविने अपनी बुद्धिके द्वारा

उनका पर्यालोचन किया है तथा अपनी ऐंद्रिय कल्पनाके द्वारा उनकी प्रतिमूर्ति भी गढ़ी है, परंतु आत्मामें पैठकर उन्हें गहराईके साथ जीवनमें नहीं उतारा है। केवल कालिदास ही रचना-पद्धतिकी इस त्रुटिसे मुक्त हैं, क्योंकि उनमें एक महान् चिंतनशील, कल्पनाकुशल, तथा ऐंद्रिय संवेदनोंको ग्रहण करनेवाली कवि-आत्मा है जो उसके द्वारा चित्रित वस्तुओंको जीवनमें उतार चुकी है और उनका सृजन करती है न कि केवल भव्य दृश्यों और पात्रोंको कल्पनाके द्वारा गढ़ती है। शेष कवि केवल कभी-कभी ही इस त्रुटिसे ऊपर उठते हैं और तब वे केवल एक भव्य या प्रभावशाली ही नहीं अपितु महान् रचनाका सृजन करते हैं। किंतु उनकी साधारण कृति भी इतने सुचारु रूपसे विरचित है कि वह अपने गुण-वैभवके लिये महत् और अपरिमित प्रशंसाकी अधिकारिणी है, पर परमोच्च प्रशंसाकी नहीं। अंततः, वह सर्जनात्मक होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक अलंकारात्मक ही है। इस कवित्व-पद्धतिके स्वरूपसे एक आध्यात्मिक निष्कर्ष निकलता है, वह यह कि हम यहां उस समयके भारतकी प्रचलित विचारधारा, आचारनीति, सौंदर्यात्मक संस्कृति तथा सक्रिय एवं ऐंद्रिय जीवनकी अत्यंत स्पष्ट झांकी पाते हैं, पर यहां इन वस्तुओंका बाह्य रूप-स्वरूप जितना दीख पड़ता है उतनी इनकी गभीरतर आत्मा नहीं। काफी ऊंची और आदर्श कोटिका नैतिक और धार्मिक विचार यहां पुष्कल मात्रामें है और वह सर्वथा सत्यतापूर्ण भी है, पर उसकी सत्यता केवल बौद्धिक ही है और इसीलिये यहां उस गंभीरतर धार्मिक भाव या जीवंत नैतिक शक्तिकी छाप नहीं है जिसे हम महाभारत और रामायणमें तथा भारतकी अधिकांश कला और साहित्यमें पाते हैं। संन्यासमय जीवनका भी यहां चित्रण पाया जाता है, पर केवल इसके विचारों और बाह्य रूपमें : ऐंद्रिय जीवनका चित्रण भी वैसी ही सतर्क और यथार्थ रीतिसे किया गया है—इसका गहन निरीक्षण और मूल्यांकन किया गया है और आंख तथा बुद्धिके लिये सुचारु रूपसे इसकी प्रतिकृति उतारी गयी है, पर कविकी आत्मामें न तो इसका गहराईके साथ अनुभव किया गया है और न सृजन। बुद्धि इतनी अधिक अनासक्त और सूक्ष्म-निरीक्षक बन गयी है कि वह जीवनकी स्वाभाविक शक्तिके साथ या अंतर्ज्ञानमूलक तदात्मताके साथ वस्तुओंको जीवनका अंग नहीं बना सकती। अतिविकसित बौद्धिकतावादका गुण और साथ ही इसका रोग भी यही है और यह सदा ही ह्रासका अग्रदूत रहा है।

बौद्धिकताप्रधान प्रवृत्ति एक और प्रकारकी रचना, **सुभाषित**, अर्थात् पद्यबद्ध सूक्तियोंकी बहुलताके रूपमें भी प्रकट होती है। यह श्लोककी स्वतंत्र पूर्णताका एक ऐसा प्रयोग होता है जिससे कि वह अपनी पृथक् स्वयंपूर्णतामें किसी विचारके, जीवनकी किसी संक्षिप्त रूप-रेखा या महत्त्वपूर्ण घटना, एवं किसी भावनाके संहत सार और वर्णनको व्यक्त रूप प्रदान करे। वह विचार आदि इस प्रकार प्रकट किये जाते हैं कि उनका मूलभाव बुद्धिको हृदयंगम हो जाय। इस प्रकारकी रचना अत्यंत बहुल मात्रामें की गयी है और वह सराहनीय भी है; क्योंकि यह उस युगकी तीक्ष्ण बुद्धि और विशाल, परिपक्व तथा सुसंचित अनुभूतिके

अनुकूल थी : परंतु भर्तृहरिकी रचनामें यह प्रतिभाका आकार धारण कर लेती है, क्योंकि वह केवल विचारके द्वारा ही नहीं बल्कि भावावेगके द्वारा, यूं कहिये कि भावकी द्रवीभूत बौद्धिकता तथा एक ऐसी अंतरीय अनुभूतिके द्वारा लिखते हैं जो उनकी वाणीको महत् शक्ति और कभी-कभी तो तीक्ष्णता भी प्रदान करती है। उनकी सूक्तियोंके तीन शतक हैं, पहलेमें[1] उच्च नैतिक विचार या सांसारिक ज्ञान, या जीवनके विभिन्न पक्षोंपर संक्षिप्त विचार-विमर्श व्यक्त किये गये हैं, दूसरेका[2] विषय है श्रृंगार-भाव, यह पहले शतककी अपेक्षा बहुत कम प्रभावशाली है क्योंकि यह कविकी अपनी प्रकृति और प्रतिभाकी अपेक्षा कहीं अधिक कुतूहल और पारिपार्श्विक वातावरणका फल है, और तीसरेमें[3] जगत्से वैराग्यपूर्ण क्लांति और पराङ्मुखताकी घोषणा की गयी है। भर्तृहरिकी यह त्रिविध रचना उस युगके मानसकी तीन प्रमुख प्रेरणाओंकी सूचक है, जीवनमें इसकी विचारणात्मक रुचि और उच्च, सबल तथा सूक्ष्म चिंतनाकी ओर प्रवृत्ति, ऐंद्रिय सुखभोगमें इसकी निमग्नता, और इसका वैराग्यमय आध्यात्मिक झुकाव--जो पहलीका परिणाम है तथा दूसरीका मुक्ति-मूल्य। इस आध्यात्मिकताके स्वरूपके कारण भी भर्तृहरिकी यह कृति एक गूढ़ार्थकी सूचक है; यह आध्यात्मिकता अब पहलेकी तरह आत्माकी अपने उच्च स्तरकी पूर्णताकी ओर महान् स्वाभाविक उड़ान नहीं है, वरंच बुद्धि और इंद्रियोंका जो अपने-आपसे तथा जीवनसे ऊब चुकी हैं तथा वहां अपना अभीष्ट संतोष प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं, आत्माकी निष्क्रियतामें शांति पानेके लिये जीवनसे मुंह फेरना है ताकि क्लांत मन और इंद्रिय उस निष्क्रियतामें अपनी पूर्ण शांति और विश्राम प्राप्त कर सकें।

परंतु नाटक इस युगके कवि-मानसकी सबसे अधिक आकर्षक रचना है, यद्यपि इसी कारण वह महत्तम रचना नहीं है। उसमें इसकी अतिशय बौद्धिकताको नाटकात्मक काव्यकी आवश्यकताओंसे बाध्य होकर जीवनके असली आकार और गतिविधिके साथ अधिक घनिष्ठ और सृजनशील रूपमें एक हो जाना पड़ा। संस्कृत नाटक जिस ढंगसे लिखे गये हैं वह एक सुन्दर शैली है और जो नाटक परंपराक्रमसे हमतक पहुंचे हैं उनमेंसे अधिकतरमें इसका प्रयोग एक सिद्धहस्त कला और सच्ची सर्जन-क्षमताके साथ किया गया है। तथापि यह भी सत्य है कि यह यूनानी या शेक्सपीयरके नाटकोंकी महानताओंतक नहीं पहुंचता। इसका कारण यह नहीं कि भारतीय नाटकोंसे शोकात्मक स्वरका बहिष्कार किया गया है,--क्योंकि मृत्यु, शोक, दुर्धर्ष विपत्ति या कर्मके हृदयविदारक प्रतिफलके रूपमें नाटकका उपसंहार दिखाये बिना भी महत्तम कोटिकी नाटक-रचना की जा सकती है, और फिर भी यह कोई ऐसा स्वर नहीं है जिसका भारतीय मनमें नितांत अभाव हो,--क्योंकि महाभारतमें यह पाया जाता है और रामायणके अधिक प्राचीन उल्लासपूर्ण एवं जयशाली उपसंहारमें भी यह आगे चलकर

[1]नीतिशतक। [2]श्रृंगारशतक। [3]वैराग्यशतक।

जोड़ दिया गया था; पर शांति और स्थिरताका उपसंहारात्मक स्वर भारतीय स्वभाव और कल्पनाके सत्त्वोन्मुख झुकावके अधिक अनुकूल था। इसके विपरीत, इसका कारण यह है कि इनमें नाटकीय ढंगसे जीवनके महान् प्रश्नों और समस्याओंका कोई साहसपूर्ण विवेचन नहीं किया गया है। ये नाटक अधिकतर रूमानी नाटक हैं जो उस समयके अत्यंत संस्कृत जीवन-को प्राचीन गाथा एवं आख्यायिकाके ढांचेमें ढालकर उसके चित्रों और सुस्थिर पदक्षेपोंको प्रदर्शित करते हैं, परंतु इनमेंसे कुछ एक अधिक यथार्थवादी हैं और उस युगके नागरिक गृहस्थके स्वरूप अथवा अन्य दृश्योंका या किसी ऐतिहासिक विषयका चित्रण करते हैं। राजाओंके शानदार दरबार या प्रकृतिके परिपार्श्वका सौंदर्य इनका अधिक सामान्य दृश्य हैं। परंतु इनका विषय या प्रकार कोई भी क्यों न हो, ये जीवनकी प्रोज्ज्वल प्रतिलिपियां या उसके कल्पनामूलक रूपांतर मात्र हैं, और वस्तुतः-महत्तम या अत्यंत हृदयद्रावक नाटच-रचना-के लिये किसी और चीजकी भी जरूरत होती है। किंतु फिर भी इनका रचना-प्रकार एक उच्च या ओजस्वी या सुकुमार काव्यको, और मानव कर्म एवं हेतुकी किसी अत्यंत गंभीर व्याख्याको न सही पर इसके चित्रणको स्थान देता है और इस प्रकार-विशेषकी दृष्टिसे इनमें कोई न्यूनता नहीं है। काव्य-सुषमा और सूक्ष्म अनुभूति तथा वातावरणका महान् आकर्षण,—कालिदासके शाकुंतलमें जो समस्त साहित्यके बीच अत्यंत सर्वांगपूर्ण और मनोमोहक रूमानी नाटक है, यह आकर्षण अपने सर्वाधिक पूर्ण रूपको प्राप्त कर लेता है,——या भावना और अभिनयका रोचक मोड़, नाटच-कलाके माने हुए सिद्धांत और सावधानतापूर्वक पालन किये हुए सूत्रके अनुसार, घटनाके उग्र कोलाहलके बिना अथवा स्थिति-विशेषपर या पात्रोंकी बहुल-तापर अत्यधिक बल न देते हुए, संयत मात्रामें, कुशलता और शिष्टताके साथ कथानकका विकास, मधुरता और स्थिरताके प्रधान स्वरके द्वारा गतिच्छंदका नियमन, सूक्ष्म मनोविज्ञान, तीव्र लक्षणोंके द्वारा चरित्रका उस प्रकारका सुस्पष्ट अंकन नहीं जिसकी यूरोपकी नाटक-कलामें साधारणतः अपेक्षा की जाती है, वरन् कथोपकथन और अभिनयके रूपमें हलके स्पर्शों-के द्वारा सूक्ष्म संकेत,——ये इन नाटकोंकी आम विशेषताएं हैं। यह एक ऐसी कला है जिसका निर्माण एक अत्यंत सुसंस्कृत वर्गने किया था जो उन्नत, बौद्धिक और सूक्ष्म-दर्शी था और शांत-रसात्मक आकर्षण, माधुर्य एवं सौंदर्यको सर्वाधिक पसंद करता था; और इसी वर्गको यह कला आकर्षित भी करती थी, और इसमें इस प्रकार-विशेषकी त्रुटियां तो हैं, पर साथ ही इसके गुण भी विद्यमान हैं। इस कलाके सर्वश्रेष्ठ युगमें रचनाकी अटूट श्री-सुषमा और उत्कृष्टता पायी जाती है, भासमें और उनकी परंपराको आगे बढ़ानेवाले लेखकों-में अधिक स्पष्ट, प्रत्यक्ष पर फिर भी उत्कृष्ट ओज है, भवभूतिके नाटकोंमें विशालता और शक्तिमत्ताका उच्छ्वास है और कालिदासकी पूर्णतामें एक उच्च सौंदर्यकी पराकाष्ठा है।

यह नाटक, यह काव्य, वर्णनात्मक व्योरोंसे परिपूर्ण गद्यात्मक कहानियां, बाण-रचित हर्ष-का जीवनचरित या जोनराज-लिखित काश्मीरका इतिहास-जैसे प्रबंध, धार्मिक अथवा काल्प-

निक या यथार्थवादी कथाओंके संग्रह, जातक, पद्यात्मक कथाओंके वैभव और अखूट प्राचुर्यसे युक्त कथासरित्सागर, पंचतंत्र और उसकी अपेक्षा संक्षिप्त हितोपदेश जो प्रखर व्यवहार-ज्ञान, नीति और राजकौशलकी विशाल राशिके संबंधमें एक चुभती योजना बनानेके लिये पशु-पक्षियोंकी किस्से-कहानियोंकी पद्धतिका विकास करते हैं, तथा अन्य कम प्रसिद्ध कृतियोंकी बृहत् राशि——ये सब तो उस साहित्यिक कृतित्वके अबतक बचे हुए अवशेष मात्र हैं जो, जैसा कि अनेकानेक संकेतोंसे पता चलता है, अवश्य ही अत्यंत विशाल रहा होगा। परंतु ये अवशेष भी इतने पर्याप्त रूपमें प्रचुर और प्रतिनिधि-स्वरूप हैं कि एक उच्च संस्कृति, वैभवशाली बौद्धिकता, समृद्ध धार्मिक, सौंदर्यात्मक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्राणिक कर्मण्यतासे संपन्न एक महान् और व्यवस्थित समाज, एक बहुमुखी विकास, तथा जीवनकी यथेष्ट हलचलकी सघन और उज्ज्वल छाप एवं बहुरंगी तस्वीर चित्तपर अंकित कर देते हैं। प्राचीनतर महाकाव्योंके समान ही ये इस जनश्रुतिको पूर्ण रूपसे असत्य सिद्ध कर डालते हैं कि भारत तत्त्वज्ञान और धार्मिक स्वप्नोंमें डूबा हुआ था तथा जीवनके महान् कार्योंको करनेमें असमर्थ था। इस धारणाको जन्म देनेवाला एक अन्य तत्त्व यह है कि यहां दार्शनिक चिंतना और धार्मिक अनुभूतिका एक उत्कट आयास जारी था। पर सच पूछो तो इस युगमें यह आयास प्रायः एक पृथक् गतिधाराका अनुसरण करता है और इस बाह्य कर्मण्यताकी धूमधाम और चहल-पहलके पीछे उस विचारधाराको और उन प्रभावों, स्वभाव एवं प्रवृत्तियोंको क्रमशः विकसित करता है जिन्हें एक और सहस्राब्दीतक भारतवासियोंके जीवनका परिचालन करना था।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

चौदहवां अध्याय

भारतीय साहित्य

भारतीय मनका प्रधान स्वर, इसका वह स्वभाव जो इसकी समस्त संस्कृतिके मूलमें रहा है और दर्शन, धर्म, कला और जीवनके क्षेत्रमें इसके सर्जनात्मक कार्य-कलापके अधिकांशका उद्‌गम और आधार रहा है, आध्यात्मिक, अंतर्ज्ञानात्मक और आंतरात्मिक ही रहा है––यह मैं बारंबर बलपूर्वक प्रतिपादित कर चुका हूं; परंतु इस मूल प्रवृत्तिने सबल और समृद्ध बौद्धिक, व्यावहारिक और प्राणिक कर्मण्यताका बहिष्कार नहीं किया है वरंच शक्तिशाली रूपमें इसे सहारा ही प्रदान किया है। उच्चश्रेणिक लौकिक साहित्यमें यह क्रिया बहुत अधिक सामने आ जाती है, वहां यह एक प्रमुख विशेषता है तथा मूल भावको कुछ-कुछ पृष्ठभूमिमें धकेल देती है। इसका यह अर्थ नहीं कि उस समयके लौकिक काव्यमें मूलभाव परिवर्तित या लुप्त हो गया है अथवा उसमें आंतरात्मिक या अंतर्ज्ञानात्मक तत्त्व कोई भी नहीं है। इसके विपरीत, वहां जिस प्रकारकी मानसिकता प्रतिबिंबित हुई है वह पूरीकी पूरी प्रसिद्ध भारतीय ढंगकी है जो धर्म्य-दार्शनिक, धर्म्य-नैतिक, धर्म्य-सामाजिक––प्रत्येक प्रकारके परिवर्तनमें अटूट बनी रहती है, अतीतकी समस्त आध्यात्मिक अनुभूति इस मानसिकताके पीछे विद्यमान है तथा इसे सहारा देती है, भले वह सुस्पष्ट रूपसे सामने आयी हुई न हो; वहां कल्पना-शक्ति भी उसी प्रकारकी है जैसी हम उस समयकी कलामें देख चुके हैं; अर्थ-पूर्ण रूपक, प्रतीक और गाथाके ढांचे भी वही हैं जो अतीतसे परंपराके द्वारा हमतक आये हैं, हां, वे कुछ ऐसे संशोधनों तथा नयी प्रगतियोंमेंसे अवश्य गुजरे हैं जिन्हें अपना पूर्ण कलेवर पुराणोंमें प्राप्त हुआ है; रूपक आदिके इन ढांचोंमें एक प्रबल आंतरात्मिक संकेत निहित है। भेद इतना ही है कि इन कवियोंके हाथोंमें ये एक मूल आध्यात्मिक रचनाकी अपेक्षा कहीं अधिक एक ऐसी परंपराका रूप ग्रहण कर लेते हैं जिसे उनकी बुद्धि अच्छी तरह समझ चुकी है तथा जिसे लेकर वह अपनी क्रिया करती है। और यहां प्रधान वस्तु बुद्धि ही है जो इस ढांचे और नमूनेके अंतर्गत प्रचलित विचारों और वस्तुओंको स्वीकार करती तथा उनका

पर्यालोचन करती है और अपनी समीक्षात्मक या पुनः-सर्जक पर्यालोचना एवं स्वीकृतिको कलात्मक चित्रण और अलंकारक रूपककी तीव्र रेखाओं और समृद्ध रंगोंके द्वारा सजीव बना देती है। मूल शक्ति और अंतर्ज्ञानात्मक दृष्टि अब सत्ताके बाह्य, अर्थात् ऐंद्रिय, वस्तुगत एवं प्राणिक पक्षोंमें अत्यंत प्रबलताके साथ कार्य करती हैं, और इस युगमें इन्हीं पहलुओंको अधिक पूर्णताके साथ हाथमें लेकर प्रकट किया जा रहा है और धार्मिक क्षेत्रमें आध्यात्मिक अनुभवके विस्तारके लिये आधार बनाया जा रहा है।

भारतीय संस्कृतिके इस विकासका आशय शुद्ध साहित्यके क्षेत्रके बाहर इस समयके दार्शनिक ग्रंथोंमें और पुराणों तथा तंत्रोंके धार्मिक काव्यमें अधिक स्पष्ट रूपसे प्रकट होता है। ये दोनों प्रवृत्तियां एक साथ मिलकर शीघ्र ही एक अखंड वस्तु बन गयीं और इस सुसंस्कृत युगकी एक अत्यंत सजीव एवं स्थायी क्रियावली सिद्ध हुईं। जनताके मनपर इनका अत्यंत स्थिर प्रभाव पड़ा। इन्होंने सर्जनशील शक्तिका काम किया और परवर्ती लोकप्रिय साहित्योंमें इन्हींने सर्वाधिक प्रधान भाग लिया। जातीय मनके जन्मजात स्वभाव, सामर्थ्य और गंभीर आध्यात्मिक बुद्धि एवं भावनाका ही यह एक अद्भुत प्रमाण है कि इस युगका दार्शनिक चिंतन अपने पीछे ऐसा अपरिमित प्रभाव छोड़ गया; क्योंकि यह चिंतन ऊंचे-से-ऊंचे तथा कठोर-से-कठोर बौद्धिक ढंगका था। (हमारी जातिकी) यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीन कालमें ही आरंभ हो चुकी थी और इसने बौद्ध धर्म, जैनधर्म तथा महान् दार्शनिक संप्रदायोंको जन्म दिया था, यह उसकी तत्त्वचिंतक प्रज्ञाका प्रयास थी जिसका उद्देश्य अंतर्ज्ञानात्मक अध्यात्म-अनुभवसे उपलब्ध सत्योंको तर्कबुद्धिके समक्ष निरूपित करना था तथा उन्हें यौक्तिक एवं कठोरतः-न्यायशास्त्रीय तर्क-अनुमानकी सूक्ष्म कसौटीपर कसकर उनसे वे सब फलितार्थ निकालना था जिनकी खोज विचारशक्ति कर सकती है। छठी और तेरहवीं शतियोंके बीचके युगकी प्रचुर दार्शनिक रचनाओंमें यह प्रवृत्ति किंवा प्रयास अपनी सुविस्तृत एवं सावधानतापूर्ण तर्कणा, सूक्ष्म समीक्षा एवं मीमांसा और प्रबल तार्किक रचना एवं क्रमबद्धताकी शक्तिकी चरम सीमापर पहुंच जाता है। दक्षिणके महान् विचारकों, शंकर, रामानुज और मध्व, की कृतियां इस युगके विशेष चिह्न हैं। यह प्रवृत्ति यहीं आकर नहीं समाप्त हो गयी, बल्कि अपने अत्यंत भव्य दिनोंके बाद भी जीवित बची रही और हमारे इस युगतक भी चलती चली आयी और प्रचलित प्रणालीपर आधारित भाष्यों एवं टीकाओंकी अविच्छिन्न शृंखलाके बीच यह कभी-कभी महान् सर्जनशील विचारधारा तथा प्रायः नूतन एवं सूक्ष्म दार्शनिक भावना उद्भासित करती रही : यहां जातिके मनमें दार्शनिक प्रवृत्तिका ह्रास कभी नहीं हुआ बल्कि इसका तेज बराबर ही बना रहा। इसने दार्शनिक ज्ञान घर-घरमें प्रसारित कर दिया। इसका परिणाम हम यह देखते हैं कि औसत भारतीय मन भी, एक बार प्रबुद्ध होते ही, अति सूक्ष्म एवं गंभीर विचारोंका भी आश्चर्यजनक तीव्रताके साथ प्रत्युत्तर देता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नया या पुराना कोई

भी हिन्दू संप्रदाय तबतक जन्म नहीं ले सका जबतक कि उसने अपने आधारके रूपमें किसी स्पष्ट दार्शनिक तत्त्व और सिद्धांतका विकास नहीं कर लिया।

गद्यात्मक दार्शनिक कृतियां साहित्यकी श्रेणीमें आनेकी अधिकारिणी नहीं हैं; इन्हींमें आलोचनात्मक पहलू प्रधान है। इनका कोई सुनिर्मित सर्जनात्मक स्वरूप नहीं है, पर कुछ अन्य ऐसी रचनाएं भी हैं जिनमें संपूर्ण विचारको एक अधिक सुविरचित भवनके रूपमें निर्मित करनेका प्रयास किया गया है और इसके लिये साहित्यका जो रूप अपनाया गया है वह साधारणतः दार्शनिक कविताका है। इस रूपको पसंद करनेका अर्थ यह है कि उपनिषदों और गीताकी परंपराका सीधा प्रवाह सुरक्षित रखा गया है। इन कृतियोंको काव्यके रूपमें बहुत ऊंचा स्थान नहीं दिया जा सकता : ये विचारोंके भारसे इतनी अधिक दबी हुई हैं और भाषाकी अंतर्ज्ञानात्मक क्षमतासे भिन्न बौद्धिक क्षमताकी प्रधानताके कारण इतनी अधिक बोझिल हैं कि इनमें वह जीवनोच्छ्वास और प्रेरणाबल हो ही नहीं सकते जो सर्जनकारी कवि-मानसके अपरिहार्य गुण होते हैं। इनमें जो चीज अत्यंत सक्रिय है वह है खंडन-मंडनात्मक बुद्धि न कि साक्षात्कार करने और अर्थ प्रकाशित करनेवाली दृष्टि। आत्मा और परमात्माके दर्शन और परमोच्च विश्व-दर्शन करके उस दर्शनका स्तुतिगान करनेवाली आत्माकी अतिविशाल महानता इसमें नहीं पायी जाती और नाहीं इसमें वह जाज्वल्यमान ज्योति देखनेमें आती है जो उपनिषदोंकी शक्ति है। आत्माके जीवन और अनुभवसे सीधा उद्भूत होनेवाला प्रत्यक्ष विचार, पूर्ण, ओजस्वी और संकेतमय शब्दावलि, और लयतालकी जीवंत सुषमा जो गीताकी काव्यात्मक गरिमाका निर्माण करनेवाली चीजें हैं––इन सबका भी इसमें अभाव है। तथापि इनमेंसे कुछ कविताएं, उत्कृष्ट काव्य न सही, सराहनीय साहित्य अवश्य हैं। इनमें सर्वोच्च दार्शनिक प्रतिभा और विलक्षण साहित्यिक योग्यताका सम्मिश्रण है। निःसंदेह ये मौलिक कृतियां तो नहीं हैं पर ऐसी उदात्त एवं दक्षतापूर्ण रचनाएं अवश्य हैं जो ऊंची-से-ऊंची संभव विचार-धाराको मूर्तिमंत करती हैं, प्राचीन उत्कृष्ट संस्कृत भाषाकी सारी-की-सारी, गुर्वर्थ, संहत एवं परिमित पदावलिका सम्यक्तया प्रयोग करती हैं और उसके लय-तालकी समस्वरता एवं भव्य सुषमाको सफलतापूर्वक साधित करती हैं। विवेक-चूड़ामणिमें, जो शंकर-प्रणीत मानी जाती है, तथा उसी प्रकारकी अन्य कविताओंमें हमें ये गुण अपने अत्युत्तम रूपमें दिखायी देते हैं। यहांतक कि विवेकचूड़ामणिमें तो हमें, इसकी अति गूढ़ प्रवृत्तिके होते हुए भी, उपनिषदोंकी वाणी और गीताकी शैलीकी बौद्धिक प्रतिध्वनि सुनायी देती है। ये कविताएं, अधिक प्राचीन भारतीय ग्रंथोंकी गरिमा एवं सुषमासे निम्न कोटिकी भले ही हों, पर अन्य किसी भी देशकी ऐसी कविताओंकी तुलनामें ये कम-से-कम काव्य-शैलीकी दृष्टिसे समकक्ष तथा विचारकी उच्चताकी दृष्टिसे उत्कृष्टतर हैं और, अतएव, यह सर्वथा उचित ही है कि ये अपने रचयिताओंके अभिमत उद्देश्यको परिपूर्ण करनेके लिये आज-तक भी जीवित हैं। हमें जहां-तहां बिखरे पड़े उन कतिपय दार्शनिक गीत-खंडोंका उल्लेख

करना भी कदापि नहीं भूलना चाहिये जो एक साथ ही दार्शनिक विचार तथा काव्यात्मक सौंदर्यका घनीभूत सार हैं। नाहीं हमें उन स्तोत्रोंके विपुल साहित्यको दृष्टिसे ओझल करना चाहिये जिनमेंसे अनेकों अपनी शक्ति और उच्छ्वासमें और छंद एवं व्यंजनाकी छटामें चरम सीमाको पहुंचे हुए हैं। ये शक्ति और उच्छ्वास आदि हमें बादके प्रादेशिक साहित्यमें इसी प्रकारकी पर बृहत्तर रचनाके लिये तैयार करते हैं।

भारतकी दार्शनिक कृतियां यूरोपके विशालकाय तत्त्वचिंतनसे इस बातमें भिन्न हैं कि जब वे बौद्धिक रूप और प्रणालीको अधिक-से-अधिक अपनाती हैं तब भी उनका वास्तविक सारतत्त्व बौद्धिक नहीं होता, बरंच वह दर्शन और आध्यात्मिक अनुभूतिकी सामग्रीपर क्रिया करनेवाली एक सूक्ष्म तथा अत्यंत गभीर प्रज्ञाका फल होता है। इसका मूल कारण यह है कि भारतने दर्शन, धर्म और योगमें बराबर ही अटूट ऐक्य बनाये रखा है। भारतीय दर्शन उस सत्यका अंतर्ज्ञानात्मक वा बौद्धिक निरूपण है जिसे कि सर्वप्रथम धार्मिक मन तथा उसके अनुभवोंके द्वारा खोजा गया था। यह सत्यको विचारके सम्मुख प्रकाशित करने और तर्क-बुद्धिके समक्ष प्रमाणित करनेभरसे कभी संतुष्ट नहीं होता, यद्यपि यह कार्य भी इसमें सराहनीय रूपसे संपन्न किया गया है, बल्कि इसकी दृष्टि तो बराबर आत्माके जीवनमें इस सत्यका साक्षात्कार करनेकी ओर, अर्थात् योगके ध्येयकी ओर लगी रहती है। इस युगका चिंतन, बौद्धिक पहलूको इतनी अधिक प्रधानता देनेपर भी, भारतीय स्वभावकी इस अटल आवश्यकताका कभी व्यतिक्रम नहीं करता। यह आध्यात्मिक अनुभवको लेकर बुद्धिके यथायथ एवं श्रमपूर्ण निरीक्षण एवं अंतःप्रेक्षणके द्वारा बाहरकी ओर क्रिया करता है और फिर बौद्धिक प्रत्ययोंको लेकर उनसे अध्यात्म-अनुभवकी नयी प्राप्तियोंके लिये पीछेकी ओर तथा अंदरकी ओर क्रिया करता है। निःसंदेह, सत्यको खंड-खंड करने और एकांगी रूप देनेकी प्रवृत्ति भी देखनेमें आती है; उपनिषदोंका महान् सर्वांगीण सत्य, पहलेसे ही, चिंतनके विभिन्न संप्रदायोंमें विभाजित हो चुका है और ये भी अब आगे और कम व्यापक दार्शनिक संप्रदायोंमें विभक्त होते जा रहे हैं; परंतु इन संकुचित शाखा-संप्रदायोंमेंसे हरएकमें सूक्ष्म या गूढ़ अन्वेषणकी अधिकाधिक वृद्धि देखनेमें आती है और, सब मिलाकर, शिखरोंपर विशालताकी कमी होते हुए भी उसके बदलेमें आत्मसात् करने योग्य अध्यात्मज्ञानका कुछ विस्तार-सा पाया जाता है। आत्मा और बुद्धिके बीच होनेवाले आदान-प्रदानका यह जो ताल-छंद था कि आत्मा प्रकाश देती थी और बुद्धि खोज करती, उपलब्धि करती तथा निम्न जीवनको आत्माकी स्फुरणाएं आत्मसात् करनेमें सहायता देती थी, इस (ताल-छंद) ने भारतीय आध्यात्मिकताको ऐसी अद्‌भुत तीव्रता, सुरक्षितता और दृढ़ता प्रदान करनेमें योग दिया जिसका दृष्टांत अन्य किसी जातिमें नहीं मिलता। निःसंदेह, अधिकांशमें यह इन्हीं दार्शनिकोंका, जो साथ-ही-साथ योगी भी थे, कार्य था जिसने भारतकी आत्माकी उसके अधःपतनकी घनघोर निशामें भी रक्षा की एवं इसे जीवित रखा।

परंतु यह कार्य किया ही न जा सकता यदि लोगोंकी कल्पना और भाव-तरंगोंको तथा उनकी नैतिक एवं सौंदर्यात्मक बुद्धिको आकर्षित करनेवाले अधिक सुबोध विचारों, रूपों और प्रतीकोंके एक विपुल समुदायकी सहायता इस कार्यमें प्राप्त न होती। इन विचारों, रूपों आदिके लिये यह आवश्यक था कि ये कुछ अंशमें तो उच्चतर अध्यात्म-सत्यकी अभिव्यक्ति हों और कुछ अंशमें सामान्य धार्मिक मनोवृत्ति तथा आध्यात्मिक मनोवृत्तिके बीच, एकसे दूसरीतक पहुंचनेके लिये, सेतुका काम करें। इस आवश्यकताकी पूर्त्ति तंत्रों और पुराणोंने की। पुराण इस युगका अपना विशिष्ट धार्मिक काव्य हैं: क्योंकि यद्यपि काव्यका यह रूप संभवतः प्राचीन कालमें भी विद्यमान था, तथापि इसका पूर्ण विकास इस युगमें आकर ही हुआ और यह धार्मिक भावनाकी एक विशिष्ट एवं प्रधान साहित्यिक अभिव्यंजना बन पाया और, निःसंदेह, पुराण-शास्त्रोंके संपूर्ण सार-तत्त्वका तो नहीं पर उनके मुख्य एवं बृहत् अंश तथा वर्तमान रूपका श्रेय इसी युगको देना होगा। आधुनिक युगमें, जबसे कि पश्चिमी युक्तिवादसे रंगे हुए अर्वाचीन विचारोंका प्रवेश हुआ है तथा नये आवेगोंके अधीन होकर बुद्धि फिरसे प्राचीन संस्कृतिके अधिक आरंभिक मूलभूत विचारोंकी ओर मुड़ गयी है, पुराणोंकी बहुत बदनामी और निंदा की गयी है। परंतु इस निंदाके अधिकांशका कारण मध्ययुगीन धार्मिक ग्रंथोंके प्रयोजन, उनकी रचना-पद्धति एवं उनके आशयको सर्वथा गलत रूपमें समझना ही है। भारतकी धर्म-संबंधी कल्पनाकी दिशाको तथा उसकी संस्कृतिके विकासमें इन ग्रंथोंके स्थानको समझ लेनेपर ही हम पुराणोंके आशयको हृदयंगम कर सकते हैं।

वास्तवमें, अपनी सत्ता और अपने अतीतके संबंधमें जो श्रेष्ठतर ज्ञान हमें आज पुनः प्राप्त हो रहा है उससे पता चलता है कि पौराणिक धर्म प्राचीन आध्यात्मिकता, दर्शन और सामाजिक-धार्मिक संस्कृतिके सत्यका ही एक नया रूप और विस्तार हैं। अपने घोषित उद्देश्यमें वे भारतजातिके सृष्टयुत्पत्तिवाद, उसकी प्रतीकात्मक गाथा और प्रतिमूर्त्ति, परंपरा, मत-विश्वास और सामाजिक नियमके लोकप्रिय सार-संग्रह हैं और ये सृष्ट्युत्पत्ति-सिद्धांत आदि, जैसा कि 'पुराण' नामसे सूचित होता है, प्राचीन कालसे ही चले आ रहे हैं। यहां इनके सारमें कोई परिवर्तन नहीं होता, परिवर्तन होता है केवल रूपोंमें। वैदिक युगमें सत्यके जो चैत्य प्रतीक या उसकी जो सच्ची प्रतिमूर्तियां थीं वे लुप्त हो जाती हैं या फिर उनका अर्थ परिवर्तित एवं क्षीण करके उन्हें एक गौण योजनाके सुपुर्द कर दिया जाता है: उनका स्थान अन्य प्रतीक या प्रतिमूर्तियां ले लेती हैं जिनका लक्ष्य अधिक प्रत्यक्ष रूपमें व्यापक होता है और जो सार्वभौम एवं सर्वग्राही होती हैं तथा स्थूल जगत्से आहरण की हुई परिकल्पनाओंको लेकर नहीं चलतीं, बल्कि अपना संपूर्ण उपादान हमारे अंदरके चैत्य जगत्से ही प्राप्त करती हैं। वैदिक देव-देवियां अपने स्थूल रूपके द्वारा अधार्मिक लोगोंसे अपना चैत्य और आध्यात्मिक अर्थ छुपाये रखती हैं। इसके विप-

रीत, पौराणिक त्रिमूर्ति, और इसकी स्त्री-शक्तियोंके रूप भौतिक मन या कल्पनाके लिये बिलकुल अर्थहीन हैं, वे तो 'सब कुछ'को प्रकट करनेवाले परमेश्वरके एकत्व और बहुत्वकी दार्शनिक और आंतरात्मिक परिकल्पनाएं एवं अभिव्यक्तियां हैं। पौराणिक धर्ममतोंको वैदिक धर्मका अवनत रूप कहकर वर्णित किया गया है, परंतु उन्हें सारतत्त्वमें तो नहीं, क्योंकि वह सदा ज्योंका त्यों रहता है, वरन् उनकी बाह्य गतिविधिमें, संभाव्यतः उसका विस्तार एवं विकास कहा जा सकता है। मूर्तिपूजा, मंदिरोपासना और प्रचुर क्रिया-अनुष्ठानका दुरुपयोग चाहे किसी भी अंधविश्वास या बाह्यानुष्ठानवादकी ओर क्यों न ले जाय, फिर भी ये धर्मका पतित रूप ही हों यह आवश्यक नहीं। वैदिक धर्मको मूर्तियोंकी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इसके देवताओंके भौतिक चिह्न भौतिक प्रकृतिके रूप थे और यह बाह्य जगत् उनका प्रत्यक्ष निवासधाम था। पौराणिक धर्म हमारे अंतरस्थ भगवान्‌के आंतरात्मिक रूपोंकी पूजा करता था और उसे प्रतीकात्मक रूपोंमें उनकी बाह्य अभिव्यक्ति करनी होती थी तथा उन्हें मंदिरोंमें प्रतिष्ठित करना होता था जो मंदिर कि विश्वके रहस्यार्थोंके वास्तुकलागत संकेत थे। और, जिस प्रकारकी आंतरिकता इसका उद्देश्य थी ठीक उसीके कारण बाह्य प्रतीककी बहुलता आवश्यक हो उठी ताकि वह बहुलता इन अंतरीय वस्तुओंकी जटिलताको भौतिक कल्पना और दृष्टिके निकट साकार रूपमें प्रकट कर सके। यहां (पुराणोंमें) धार्मिक सौंदर्यवृत्तिमें परिवर्तन आ गया है, परंतु धर्मका अर्थ सारतत्त्वमें नहीं वरन् केवल प्रकृति और रीति-नीतिमें ही परिवर्तित हुआ है। वास्तविक अंतर यह है कि प्राचीन धर्मका निर्माण उच्चतम गुह्य और आध्यात्मिक अनुभवसे संपन्न व्यक्तियोंने किया था जो एक ऐसे जनसमुदायके बीच रहते थे जिसपर अभीतक स्थूल जगत्‌के जीवनका ही अधिकतर प्रभाव था: उपनिषदोंने भौतिक आवरणको दूर फेंककर एक मुक्त विश्वातीत और विश्वगत अंतर्दृष्टि एवं अनुभूतिका सृजन किया और परवर्ती युगने इसे जनसाधारणके प्रति एक विशाल दार्शनिक एवं बौद्धिक अर्थसे युक्त मूर्तियोंमें प्रकट किया जिनके केंद्रीय रूप हैं त्रिमूर्ति, और विष्णु तथा शिवकी शक्तियां: बुद्धि और कल्पनाके इस आकर्षणको पुराणोंने और आगे बढ़ाया तथा इसे चैत्य अनुभव, हृद्‌गत भावों, सौंदर्यानुभूति और इंद्रियोंके लिये एक जीवंत वस्तु बना दिया। योगी और ऋषिके द्वारा उपलब्ध आध्यात्मिक सत्योंको मनुष्यकी संपूर्ण प्रकृतिके लिये सर्वांगीण रूपसे स्पष्ट, आकर्षक और प्रभावशाली बनाने और साथ ही ऐसे बाह्य साधन जुटानेके लिये सतत प्रयत्न करना जिनके द्वारा साधारण मन, संपूर्ण जातिका मन उन सत्योंमें प्रथम प्रवेश पानेके लिये आकृष्ट हो सके—यही भारतीय संस्कृतिके धर्म्य-दार्शनिक विकासका आशय है।

यह ध्यानपूर्वक देखने योग्य है कि पुराणों और तंत्रोंमें उच्चतम आध्यात्मिक और दार्शनिक सत्य विद्यमान हैं, पर वहां उन्हें न तो उस प्रकार खंडित किया गया है और न एक दूसरेके विरोधमें प्रकाशित ही किया गया है जिस प्रकार कि विचारकोंके वाद-विवादोंमें किया

जाता है, बल्कि भारतीय मनोवृत्ति और भावनाकी उदारताके अत्यंत अनुकूल पड़नेवाले ढंगसे उन्हें एक साथ मिलाकर, उनमें परस्पर संबंध जोड़कर या उन्हें एकत्र करके समन्वित कर दिया गया है। यह समन्वय कभी-कभी तो स्पष्ट रूपमें पर अधिकतर एक ऐसे रूपमें किया गया है जो किस्से-कहानी, प्रतीक, नीतिकथा, चमत्कार और दृष्टांतके द्वारा इसके कुछ अंशको जनसाधारणकी कल्पना और भाव-भावनातक पहुंचा सके। तंत्रोंमें चैत्य-आध्यात्मिक अनुभवकी एक बृहत् और जटिल राशिको लिपिबद्ध करके दृश्य प्रतिमाओंके द्वारा संपुष्ट किया गया है तथा योग-साधनाकी पद्धतियोंके रूपमें व्यवस्थित कर दिया गया है। यह तत्त्व भी पुराणोंमें पाया जाता है, पर अधिक शिथिल रूपमें; इसे क्रमबद्ध करनेके लिये वहां अपेक्षाकृत कम श्रम किया गया है। आखिरकार, यह पद्धति वेदोंकी पद्धतिका ही एक विस्तारमात्र है, हां, इसका रूप कुछ और प्रकारका है तथा इसमें स्वभावगत परिवर्तन भी देखनेमें आता है। पुराण भौतिक रूपकों और अनुष्ठानोंकी एक प्रणालीका निर्माण करते हैं जिनमेंसे प्रत्येकका अपना चैत्य अर्थ है। इस प्रकार, गंगा, यमुना और सरस्वती इन तीन नदियोंके संगमकी पवित्रता एक आंतरिक संगमका प्रतीक है और योगकी मनोभौतिक प्रक्रियामें एक निर्णायक अनुभवकी ओर संकेत करती है तथा इसके अन्य रहस्यार्थ भी हैं, जैसा कि इस प्रकारके प्रतीकवादकी पद्धतिमें प्रायः ही देखनेमें आता है। पुराणोंके तथाकथित कल्पनात्मक भौगोलिक विवरण,——स्वयं पुराणोंमें भी स्पष्ट रूपसे ऐसा ही कहा गया है,——आभ्यंतरिक चैत्य जगत्का समृद्ध काव्यात्मक रूपक एवं प्रतीकात्मक भूगोल हैं। सृष्टयुत्पत्तिका जो सिद्धांत इनमें कभी-कभी स्थूल जगत्के उपयुक्त परिभाषाओंमें वर्णित किया गया है, उसका वेदकी ही भांति यहां भी एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ एवं आधार है। यह सहजमें ही देखा जा सकता है कि कैसे बादके युगकी बढ़ती हुई अज्ञानतामें पौराणिक प्रतीकविज्ञानके अधिक पारिभाषिक अंग आध्यात्मिक और आंतरात्मिक वस्तुओंके विषयमें अनिवार्यतः ही अत्यधिक अंधविश्वास तथा स्थूल भौतिक धारणाओंके शिकार हो गये। परंतु यह खतरा तो उन सभी प्रयत्नोंके साथ लगा रहता है जो इन वस्तुओंको जनसाधारणके समझने लायक बनानेके लिये किये जाते हैं और इस हानिके कारण हमें इस तथ्यके प्रति अंध नहीं बन जाना चाहिये कि उन्होंने जनताके मानसको शिक्षित करनेमें बड़ा भारी कार्य किया है ताकि वह उस मनोधार्मिक एवं चैत्य आध्यात्मिक आकर्षणका प्रत्युत्तर दे सके जो उच्चतर वस्तुओंके लिये क्षमता प्रदान करता है। वह प्रभाव अभीतक बना हुआ है, भले ही पौराणिक पद्धतिको एक सूक्ष्मतर आकर्षणके द्वारा तथा अधिक प्रत्यक्षतः सूक्ष्म अर्थोंके प्रति जागरणके द्वारा अतिक्रम करनेकी आवश्यकता हो, और यदि इस प्रकार अतिक्रम करना संभव बन जाय तो स्वयं वह भी अधिकांशमें पुराणोंद्वारा किये गये इस कार्यके कारण ही संभव होगा।

पुराण मूलतः एक सच्चा धार्मिक काव्य हैं, अर्थात् वे धार्मिक सत्यके सौंदर्यात्मक निरू-

पणकी कला हैं। निःसंदेह, अठारहों पुराणोंका समस्त स्तूप इस प्रकारकी कलामें उच्च पदका अधिकारी नहीं ठहरता : इनमें निरर्थक सामग्री भी बहुत-सी है और निर्जीव और नीरस वस्तु भी कम नहीं है, पर वहां जो काव्य-पद्धति प्रयुक्त की गयी है वह, मोटे तौर-पर रचनाकी समृद्धता और ओजस्विताके द्वारा उचित ठहरती है। इनमेंसे प्राचीनतम कृतियां ही श्रेष्ठ हैं--हां, एक अंतिम रचना इसका अपवाद है, वह एक नयी शैलीमें है जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है एवं अद्वितीय है। उदाहरणार्थ, विष्णु-पुराण, एक या दो शुष्क स्थलोंके होते हुए भी, बहुत मूल्यवान् गुणोंसे संपन्न एक अनूठी साहित्यिक रचना है जिसमें प्राचीन महाकाव्योंकी शैलीकी प्रत्यक्ष ओजस्विता और उच्चताको अधिकांशमें सुरक्षित रखा गया है। इसमें एक विविधतापूर्ण गति है, बहुत-सी ओजस्वी और कुछ-थोड़ी उदात्त महाकाव्योचित रचना है, कहीं-कहीं प्रसादपूर्ण मधुरता और सुन्दरताका गीत्यात्मक तत्त्व भी देखनेमें आता है, ऐसी अनेक कथाएं भी पायी जाती हैं जो काव्य-शिल्पके सर्वोत्तम ओज और निपुणतापूर्ण सरलतासे संपन्न हैं। भागवत पुराण (पौराणिक कालके) अंतमें आता है तथा अधिक प्रचलित शैली एवं प्रणालीसे बहुत कुछ दूर चला जाता है, क्योंकि यह भाषाके एक विद्वत्तापूर्ण और अधिक अलंकृत एवं साहित्यिक रूपसे प्रबलतया प्रभावित है। यह विष्णु-पुराणसे भी अधिक विलक्षण कृति है जो सूक्ष्मता और समृद्ध एवं गभीर विचारधारा और सुषमासे परिपूर्ण है। इसीमें हम उस आंदोलनकी चरम परिणति देखते हैं जिसका भविष्यपर, अर्थात् भावुकतापूर्ण और उल्लासजनक भक्ति-संप्रदायोंके विकासपर अनेक प्रकारसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस विकासके मूलमें जो प्रवृत्ति कार्य कर रही थी वह भारतके धर्मप्रधान मनके प्राचीनतर रूपोंमें भी विद्यमान थी और शनैः-शनैः प्रगति कर रही थी, पर अबतक वह ज्ञान और कर्मकी तपस्याओंकी ओर तथा सत्ताके केवल उच्चतम स्तरोंपर आध्यात्मिक हर्षावेशकी खोजकी ओर (भारतीय मनकी) प्रबल प्रवृत्ति होनेके कारण दबी हुई थी तथा उसके पूर्ण स्वरूपका गठन रुका पड़ा था। उच्चसाहित्यिक युगकी बाह्य जीवन तथा इंद्रिय-तुष्टिकी ओर झुकी हुई बहिर्मुख प्रवृत्तिने एक नयी अंतर्मुख प्रवृत्तिका सूत्रपात किया जिसकी पूर्णतम अभिव्यक्ति वैष्णव धर्मके परवर्ती अत्यंत आनंदमय रूपोंके द्वारा हुई। प्राण और इंद्रियोंके अनुभवकी इस प्रकार थाह लेना यदि सांसारिक और बाह्य वस्तुओंतक ही सीमित रहता तो यह केवल स्नायु और प्राण-शक्तिके बहलाव तथा नैतिक पतन या स्वेच्छाचारकी ओर ही ले गया होता; पर भारतीय मन अपनी प्रधान प्रवृत्तिके द्वारा सदा ही अपने समस्त जीवनानुभवको अनुरूप आध्यात्मिक अवस्था और तत्त्वमें परिणत करनेके लिये बाध्य होता रहा है और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसने इन अत्यंत बाह्य वस्तुओंको भी नये आध्यात्मिक अनुभवके आधारके रूपमें परिवर्तित कर डाला है। सत्ताकी भावुकतापूर्ण, ऐंद्रिय और यहांतक कि कामुक चेष्टाएं भी अंतरात्माको और अधिक बहिर्मुख कर भी नहीं पायीं कि उन्हें हाथमें लेकर

चैत्य रूपमें रूपांतरित कर डाला गया और इस प्रकार परिवर्तित होकर वे हृदय और इंद्रियोंके द्वारा भगवान्‌की गुह्य प्राप्तिके तथा ईश्वरीय प्रेम, आनंद और सौंदर्यजन्य उल्लास-के धर्मके अंग बन गयीं। तंत्रमें इन नये अंगोंको लेकर योगके एक सर्वांगपूर्ण चैत्य-आध्यात्मिक एवं मनोभौतिक विज्ञानमें अपना स्थान दे दिया गया है। वैष्णव धर्ममें इसका प्रचलित रूप बालक कृष्णके गोप-जीवनकी गुह्य नीतिकथाकी धुरीपर केंद्रित है। विष्णु-पुराण-में कृष्णकी कथा दिव्य अवतारका वीरतापूर्ण उपाख्यान है: पीछेके पुराणोंमें हम सौंदर्यात्मक एवं शृंगारमय प्रतीकका विकास होते देखते हैं और भागवतमें इसे इसकी पूर्ण शक्तिके साथ प्रकट किया गया है तथा इसका आयोजन इस प्रकार किया गया है कि यह अपने आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा चैत्य अर्थको पूरेका पूरा व्यक्त करे और ज्ञानके स्थानपर आध्यात्मिक प्रेम एवं आनंदको समन्वयका केंद्र बनाकर वेदांतके प्राचीनतर अर्थको नये सिरेसे अपनी ही पद्धतिके अनुरूप ढाल दे। इस विकासकी सर्वांगपूर्ण परिणति चैतन्यके द्वारा प्रचारित दिव्य प्रेमके दर्शन और धर्ममें पायी जाती है।

वैदांतिक दर्शनकी परवर्ती विकासधाराओं और पौराणिक विचारों एवं रूपकोंने तथा भक्ति-संप्रदायोंकी काव्यमय और सौंदर्यलक्षी आध्यात्मिकताने अपने जन्मसे ही प्रादेशिक साहित्योंको प्रेरणा प्रदान की। पर संस्कृत भाषाके साहित्यकी शृंखला एकाएक यहीं नहीं टूट जाती। उच्चसाहित्यिक शैलीके काव्यकी रचना विशेषकर दक्षिणमें अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन कालतक जारी रहती है और संस्कृत अब भी दर्शन तथा सब प्रकारकी विद्वत्ता-की भाषा बनी रहती है: समस्त गद्यात्मक रचना, आलोचक मनकी समस्त कृति अभीतक प्राचीन भाषामें ही लिखी जाती है। परंतु प्रतिभा इसमेंसे शीघ्र ही लुप्त हो जाती है, यह कर्कश, भारी और कृत्रिम बन जाती है और अब केवल कोई पांडित्यपूर्ण प्रतिभा ही इसे जारी रखनेवाली रह जाती है। प्रत्येक प्रांतमें स्थानीय बोलियां, कहीं पहले और कहीं कुछ पीछे, साहित्यके गौरवके अनुरूप उठ खड़ी होती हैं और काव्य-रचनाका साधन तथा लोक-संस्कृतिका माध्यम बन जाती हैं। संस्कृत यद्यपि लोकप्रिय तत्त्वोंसे शून्य नहीं हो जाती, फिर भी मूल रूपमें तथा सर्वोत्तम अर्थमें यह कुलीन वर्गकी भाषा रह जाती है; यह उदात्त अभीप्साकी आवश्यकताके तथा महान् शैलीके अनुरूप एक ऐसी उच्च आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यप्रिय संस्कृतिका विकास तथा संरक्षण करती है जो उस समय इस शैलीमें केवल उच्चतर वर्गोंके लिये ही प्राप्य थी, और प्रभावोत्पादन तथा संचारण-की विविध प्रणालिकाओंके द्वारा एवं विशेषकर धर्म, कला और सामाजिक तथा नैतिक नियमके द्वारा इस संस्कृतिको यह (भाषा) जनसमुदायतक पहुंचाती है। बौद्धोंके हाथमें पाली इस संचारणका प्रत्यक्ष साधन बन जाती है। इसके विपरीत प्रादेशिक भाषाओंका काव्य 'सार्वजनीन' शब्दके प्रत्येक अर्थमें, सार्वजनीन साहित्यका सृजन करता है। संस्कृतके लेखक तीन उच्चतम वर्णोंके व्यक्ति थे, अधिकतर तो वे ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते थे;

और आगे चलकर वे कुछ ऐसे विद्वान् थे जो अत्यंत सुसंस्कृत प्रबुद्ध व्यक्तियोंके लिये ही लिखते थे; बौद्ध लेखक भी अधिकांशमें दार्शनिक, भिक्षु, राजा एवं उपदेशक थे जो कभी तो अपने लिये और कभी अधिक लोकप्रिय शैलीमें सर्वसाधारणके लिये लिखते थे; किंतु प्रादेशिक भाषाओंका काव्य सीधे जनताके हृदयसे फूटा और इसके रचयिता ब्राह्मणसे लेकर निम्नतम शूद्र और चांडालतक सभी वर्गोंसे आये। केवल उर्दूमें और कुछ कम मात्रामें, दक्षिणी भाषाओंमें ही, उदाहरणार्थ, तमिलमें,––जिसका महान् युग उच्चश्रेणिक संस्कृतके समकालीन है, इसका परवर्ती साहित्य-निर्माण दक्षिणके स्वतंत्र या अर्द्ध-स्वतंत्र दरबारों और राज्योंके अवशेषके समयमें जारी दिखायी देता है,––पांडित्यपूर्ण या उच्चसाहित्यिक प्रकृति और स्वभावका प्रवल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है; परंतु यहां भी लोकप्रिय तत्त्व काफी बड़ी मात्रामें पाया जाता है, जैसे, शैव संतों और वैष्णव आल्वारोंके भजनोंमें। यहां क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसे समग्र रूपमें आसानीसे नहीं जाना जा सकता और न उसका विहगावलोकन ही किया जा सकता है, परंतु इस परवर्ती साहित्यके स्वरूप और मूल्यके संबंधमें कुछ तो कहना ही होगा जिससे हम यह देख सकें कि भारतीय संस्कृति एक ऐसे युगमें भी जिसे इसके महत्तर युगोंकी तुलनामें गतिरोध और ह्रासका काल माना जा सकता है, कैसी प्राणवंत एवं निरंतर सर्जनशील बनी रही।

जैसे संस्कृत साहित्यका आरंभ वेदों और उपनिषदोंसे होता है, वैसे ही इन परवर्ती साहित्योंका आरंभ संतों और भक्तोंके अंतःप्रेरित काव्यसे होता है: क्योंकि भारतमें सदा आध्यात्मिक आंदोलन ही (सृजनका) मूलस्रोत होता है, अथवा, कम-से-कम, वही नये विचारों और नयी संभावनाओंको रचनाका आवेग प्रदान करता है तथा जातीय जीवनमें परिवर्तनोंका सूत्रपात करता है। आधुनिक युगसे पूर्व इन भाषाओंमेंसे अधिकतरकी सर्जनशील क्रियाशीलतामें प्रायः आद्योपांत इसी प्रकारके काव्यकी प्रधानता रही, क्योंकि इस प्रकारका काव्य ही सदा लोगोंके हृदय और मनके अधिक-से-अधिक निकट होता था; और जहां रचना अधिक ऐहलौकिक भावसे युक्त होती है वहां भी धार्मिक प्रवृत्ति उसमें प्रविष्ट हो जाती है तथा उसे उसका ढांचा, उसके प्रधान स्वर या प्रत्यक्ष प्रेरक भावका एक अंश प्रदान करती है। बाहुल्यमें, कवित्वके उत्कर्षमें, प्रेरकभावकी सहज सुन्दरता और गीत्यात्मक कुशलता दोनोंके संयोगमें यह काव्य अपने निजी क्षेत्रके भीतर किसी भी अन्य साहित्यमें अपना सानी नहीं रखता। इस उच्च कोटिके सौंदर्यसे संपन्न कृतिके निर्माणके लिये सच्चे प्रकारका भक्ति-भाव ही यथेष्ट नहीं है, जैसा कि इस प्रकारकी रचनामें क्रिश्चियन यूरोपकी असफलतासे सिद्ध होता है; इसके लिये आवश्यकता होती है समृद्ध और गभीर आध्यात्मिक संस्कृतिकी। इस समयके साहित्यके एक अन्य अंगके द्वारा पुरानी संस्कृतिके सारके कुछ अंशको प्रचलित भाषाओंमें लाया गया है, इसके लिये महाभारत और रामायणकी कथाको नये काव्यमय रूपोंमें ढाला गया है अथवा प्राचीन पौराणिक आख्यानोंके आधारपर रूमानी

कथाएं लिखी गयी हैं। और यहां भी अत्यंत श्रेष्ठ प्रतिभाकी कृतियां हमारे देखनेमें आती हैं, साथ ही बहुत-सी उनसे निम्न पर फिर भी उच्च श्रेणीकी रचनाएं भी मिलती हैं। इस (समयके) साहित्यका एक तीसरा प्रकार लोगोंके धार्मिक विश्वासों और भावोंका, दरबार, शहर, गांव और बस्तीके, तथा जमींदार, व्यापारी, कारीगर और किसानके जीवनका सजीव रूपमें चित्रण करता है। प्रादेशिक भाषाओंमें जो रचना की गयी है उसका अधिकांश इन श्रेणियोंमेंसे किसी-न-किसीमें आ जाता है, परंतु कुछ भिन्न प्रकारकी कृतियां भी हैं, जैसे, महाराष्ट्रमें रामदासकी धर्म्य-नैतिक और राजनीतिक कविताएं या तमिल संत तिरुवल्लुवरका सूक्ति-काव्य, जो अपनी योजना, परिकल्पना, और क्रियान्वितिकी शक्तिमत्ताकी दृष्टिसे इस शैलीमें अबतक लिखे गये काव्योंमें सबसे अधिक महान् है। इन भाषाओंमेंसे दो-एकमें पीछे-के समयका प्रेम-काव्य भी पाया जाता है जिसमें नितांत सांसारिक प्रेरणाका गीत्यात्मक सौंदर्य काफी बड़ी मात्रामें विद्यमान है। प्रादेशिक जातियोंकी इस समस्त रचनामें बाह्य रूपके अनेक भेदोंके बीच एक ही संस्कृतिका प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है, परंतु उनमेंसे प्रत्येक अपने विशिष्ट चरित्र और स्वभावकी धाराके अनुसार ही सृजन करती है और यह चीज इन सुन्दर और ओजस्वी साहित्योंमेंसे प्रत्येकपर भिन्न-भिन्न छाप लगा देती है जो एकतामें भी समृद्ध विविधताका स्रोत है।

इस प्रकार स्वभावकी विभिन्नताके दबावके कारण वैष्णवोंका काव्य विभिन्न प्रांतोंमें अत्यंत भिन्न कलात्मक रूप धारण करता है। सर्वप्रथम, पुराणोंके द्वारा सृष्ट चैत्य प्रतीकका प्रयोग देखनेमें आता है, और यह बंगालमें अपना अत्यंत पूर्ण एवं कलात्मक आकार ग्रहण करता है तथा वहां एक दीर्घजीवी परंपरा बन जाता है। भगवान्‌के लिये आत्माकी स्पृहा-को राधा और कृष्णकी रसमय प्रेम-गाथाओंके अंदर प्रतीकात्मक रूपकमें ढाल दिया जाता है, मनुष्यकी प्रकृतिगत आत्मा भागवत आत्माको प्रेमके द्वारा खोजती है, उसके सौंदर्यसे विमोहित और अधिकृत तथा उसकी मोहनी मुरलीसे आकर्षित हो जाती है, इस एक अदम्य लालसाके लिये सभी मानवीय चिंताओं और कर्तव्योंको तज देती है और इसकी अवस्थाओंके आरोह-अवरोहमें प्रथम स्पृहाके द्वारा मिलनके आनंद एवं विरहकी तीव्र वेदनाका, शाश्वत स्पृहा और पुनर्मिलनका किंवा भगवान्‌के लिये मानव आत्माके प्रेमकी लीलाका अनुभव करती है। वहां एक सुस्थिर रूपरेखा एवं क्रमधारा है, एक सूक्ष्म एवं सरल गानोचित लय है, हृदयस्पर्शी प्रत्यक्षता और प्रायः ही गभीर सुषमासे संपन्न एक परंपरागत भाषाशैली है। यह संपूर्ण गीत्यात्मक शैली बंगला भाषाका प्रयोग करनेवाले प्रथम दो कवियोंकी प्रतिभासे एकदम ही पूर्ण रूपमें फूट पड़ती है। उन कवियोंमेंसे एक तो हैं विद्यापति, शब्द और पंक्तिके पर-मोत्कृष्ट कलाकार, और दूसरे, अंतःप्रेरित गायक चंडीदास जिनके नामसे कुछ एक ऐसे मधुर-तम और अत्यंत हृदयवेधक एवं अत्युत्कृष्ट प्रेम-गीत विद्यमान हैं जैसे कि किसी भाषामें संभव हो सकते हैं। यहां इस प्रतीकको मानवीय प्रेमके अत्यंत बाह्य रूपकमें सुस्थिर रूपसे

बनाये रखा गया है और वह भी इतने संगत रूपमें कि अब बहुतसे लोग ऐसा मानने लगे हैं कि इस प्रतीकका इसके सिवा और कोई अर्थ ही नहीं है, परंतु चैतन्यके धर्मके भक्त कवियोंके द्वारा भी इन्हीं रूपकोंका प्रयोग किये जानेसे यह बात सर्वथा खंडित हो जाती है। इस प्रतीकके पीछे जो भी आध्यात्मिक अनुभव निहित था वह सारेका सारा दिव्य प्रेमके हर्षातिरेकके उस अंतःप्रेरित प्रभुदूत और अवतारमें मूर्तिमंत हो उठा था और इसका आध्यात्मिक दर्शन उसकी शिक्षामें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित था। उसके अनुयायियोंने अपनेसे प्राचीन गायकोंकी काव्य-परंपराको जारी रखा और यद्यपि प्रतिभामें वे उनसे नीची श्रेणीके हैं, फिर भी वे अपने पीछे इस प्रकारके काव्यकी एक बृहत् राशि छोड़ गये हैं जो रूपमें सर्वदा ही सुन्दर है और सारतत्त्वमें प्रायः ही गंभीर और हृदयस्पर्शी। इसका एक अन्य प्रकार राजपूत रानी मीराबाईके सर्वांगपूर्ण गीतोंमें सृष्ट हुआ है। उसमें कृष्णके प्रतीकके रूपकोंको गायिकाकी अंतरात्माने अधिक प्रत्यक्ष रूपमें प्रेमके गीत और दिव्य प्रेमीकी खोजमें परिणत कर दिया है। बंगालके काव्यमें जो व्यंजना पसंद की गयी है वह एक ऐसा प्रतीकात्मक रूपक है जो कविके लिये निर्व्यक्तिक है: पर यहां एक सव्यक्तिक स्वर हृद्भावको निराली तीव्रता प्रदान करता है। इसे दक्षिणकी एक कवयित्रीने अपने-आपको कृष्णकी वधूके रूपमें चित्रित करके एक और भी अधिक प्रत्यक्ष मोड़ दे दिया है। इस प्रकारके वैष्णव धर्म एवं काव्यकी विशिष्ट शक्ति इस बातमें है कि यह समस्त मानवीय भावावेगोंको भगवान्‌की ओर फेर देता है, इनमेंसे प्रेमके आवेगको सबसे अधिक तीव्र एवं तन्मयकारी समझकर उसे अधिक पसंद किया गया है और यद्यपि, जहां कहीं भी भक्तिप्रधान धर्मका प्रबल विकास हुआ है वहां यह भावना पुनः-पुनः उदित होती है तथापि यह कहीं भी उतनी अधिक ओजस्विता और सच्चाईके साथ प्रयुक्त नहीं की गयी है जितनी कि भारतीय कवियोंकी रचनामें।

अन्य प्रकारका वैष्णव काव्य कृष्णके प्रतीकका प्रयोग नहीं करता, वरन् वह एक अधिक प्रत्यक्ष भक्तिकी भाषामें विष्णुके प्रति संबोधित किया गया है या फिर कभी-कभी रामावतारकी धुरीपर घूमता है। तुकारामके गाने इस प्रकारके काव्यमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ एक अत्यंत विरले दृष्टांतोंको छोड़कर बंगालका वैष्णव काव्य बौद्धिकताका पुट देनेवाले विचारके प्रत्येक तत्त्वका परित्याग करता है और केवल भावुकतापूर्ण वर्णन, रागावेगके ऐंद्रिय चित्रण तथा हृदयानुभवकी तीव्रतापर ही निर्भर करता है: उधर मराठा काव्यमें आरंभसे ही एक सबल बौद्धिक स्वर पाया जाता है। मराठीका पहला कवि एक साथ ही भक्त, योगी और विचारक है; संत रामदासका काव्य, जो एक राष्ट्रके जन्म और जागरणके साथ संबद्ध है, प्रायः पूर्ण रूपसे एक धार्मिक नैतिक चिंतनकी धारा है जिसे गीतिके शिखरतक उठा ले जाया गया है; और भक्तिके अंतस्तलसे उमड़नेवाले विचारका मर्मस्पर्शी सत्य एवं उत्साह ही तुकारामके गानोंका बल और आकर्षण है। उसने जो स्वर बजाया था उसे भक्त कवियोंकी

एक लंबी परंपरा गुंजारित रखती है और मराठी-काव्यके क्षेत्रका बृहत्तर भाग उनकी रचनासे ही परिपूरित है। काव्यका यही प्रकार कबीरकी कवितामें एक अधिक प्रांजल एवं अत्युच्च दिशा ग्रहण कर लेता है। बंगालमें पुनः मुस्लिम कालके अंतमें मां भगवतीके प्रति रामप्रसादके गानोंमें उत्कट भक्तिका धार्मिक विचारकी अनेकानेक गहराइयों और प्रवृत्तियोंके साथ इसी प्रकारका संमिश्रण पाया जाता है, यहां वह एक ऐसी कल्पनाकी सजीव क्रीड़ासे युक्त है जो सब परिचित वस्तुओंको उपयुक्त और अर्थगर्भित रूपकोंमें बदल डालती है और साथ ही यहां अनुभूतिकी तीव्र सहजताका पुट भी विद्यमान है। दक्षिणमें, विशेषकर शैव कवियोंमें, गंभीरतर दार्शनिक उक्ति भक्तिके स्वरमें प्रायः ही घुली-मिली रहती है और, प्राचीन संस्कृत काव्यकी भांति, वह सजीव भाषा-शैली और रूपकावलिकी महती शक्तिसे अनुप्राणित होती है और सुदूर उत्तरमें सूरदासके हिन्दी काव्यमें उच्च वैदांतिक आध्यात्मिकता पुनः जीवित हो उठती है और नानक तथा सिक्ख गुरुओंको प्रेरणा प्रदान करती है। प्राचीन सभ्यताके द्वारा निरंतर दो सहस्र वर्षोंतक तैयार की गयी और पूर्ण बनायी गयी आध्यात्मिक संस्कृतिने इन सब जातियोंके मानसको परिप्लावित किया है और महान् नये साहित्योंको जन्म दिया है और इसकी वाणी इनकी समस्त गतिधारामें अनवरत सुनायी देती है।

कुछ एक महान् या प्रसिद्ध रचनाओंको छोड़कर इस युगका वर्णनात्मक कथा-काव्य कम आकर्षक एवं कम मौलिक है। इनमेंसे अधिकतर भाषाओंने महाभारतके संपूर्ण प्रधान कथानक या इसके कुछ एक उपाख्यानोंको और, इनसे भी अधिक व्यापक रूपमें, रामायणकी कथाको प्रचलित भाषामें रूपांतरित करनेकी सांस्कृतिक आवश्यकता अनुभव की है। बंगालमें काशीरामका महाभारत देखनेमें आता है। इसमें पुरातन महाकाव्यकी मूल कहानीका ही वर्णन उच्च साहित्यिक शैलीमें फिरसे किया गया है। इसी प्रकार वहां कृत्तिवासका रामायण भी है जो बंगाल-प्रांतकी प्रतिभाके अधिक निकट है। यद्यपि इनमेंसे कोई भी महाकाव्यकी शैलीतक नहीं पहुंच पाया है, पर फिर भी ये सरल काव्य-कौशल और प्रवाहशील वर्णन-शक्तिके साथ लिखे गये हैं। तथापि, इन बादके कवियोंमेंसे केवल दो ही प्राचीन कथाकी सजीव एवं विशद पुनः-रचना कर पाये और एक परमोत्कृष्ट कृतिका सृजन करनेमें सफल हुए। उनमेंसे एक हैं तमिल कवि कम्बन जो अपने विषयको एक श्रेष्ठ मौलिक महाकाव्यका रूप दे देते हैं और, दूसरे, तुलसीदास जिनके सुप्रसिद्ध हिंदी रामायणमें गीतिकाव्यकी तीव्रता और रोमांसकी समृद्धता तथा महाकाव्योचित कल्पनाकी उदात्तताका सम्मिश्रण विलक्षण कौशलके साथ किया गया है। तुलसी-रामायण एक साथ ही भगवदवतारकी कथा तथा भगवद्भक्तिका एक लंबा गान है। भारतीय साहित्यका इतिहास लिखनेवाले एक अंग्रेज लेखकने तुलसीदासकी कविताको वाल्मीकिके महाकाव्यसे भी अधिक श्रेष्ठ बतलाया है : यह तो एक अतिशयोक्ति ही है, और उसके गुण चाहे जो भी हों, पर श्रेष्ठ-

तमसे भी श्रेष्ठतर कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, तथापि तुलसीदास और कम्बनके लिये जो ऐसे दावे किये जा सकते हैं यह बात ही, कम-से-कम, इन कवियोंकी कवित्व-शक्तिका प्रमाण है तथा इस बातका भी साक्षी है कि भारतीय मनकी सर्जनक्षम प्रतिभा अपनी संस्कृति एवं ज्ञानका क्षेत्र संकुचित हो जानेके समय भी ह्रासको नहीं प्राप्त हुई। निःसंदेह यह समस्त काव्य गभीरताकी वृद्धिको द्योतित करता है और वह गभीरता प्राचीन उच्चता एवं व्यापकता-की कमीको कुछ हदतक पूरा कर देती है।

जहां इस प्रकारका वर्णनात्मक साहित्य अपने आधारके लिये महाकाव्योंकी ओर मुड़ता है वहां एक अन्य प्रकारका साहित्य अपना प्राथमिक आकार और प्रेरणा कालिदास, भारवि और माघके उच्चश्रेणिक काव्योंसे पाता प्रतीत होता है। इस प्रकारकी कुछ कृतियां उस प्राचीनतर काव्यकी भांति, महाभारतके प्रसंगों अथवा अन्य प्राचीन या पौराणिक आख्यानोंको अपना विषय बनाती हैं, परंतु उनमें प्राचीन उच्चसाहित्यिक एवं महाकाव्योचित शैली दृष्टि-गोचर नहीं होती, उनकी प्रेरणा पुराणोंकी प्रेरणासे ही अधिक मिलती-जुलती है और उनमें प्रचलित रोमांसका स्वर तथा इसका एक अधिक शिथिल एवं सहज विकास देखा जाता है। यह शैली पश्चिमी भारतमें अधिक प्रचलित है और गुजराती कवियोंमें सर्वाधिक गण्यमान्य प्रेमानंदकी ख्यातिका कारण इस शैलीमें उनकी उत्कृष्टता ही है। बंगालमें हम आधे रूमानी और आधे यथार्थवादी वर्णनका एक अन्य ही प्रकार देखते हैं। वह अपने युगके धार्मिक मन और जीवन तथा दृश्य-समूहका काव्यमय चित्रण करता है तथा अपनी मूल प्रेरणामें राजपूत-चित्रकलाके लक्ष्यके अधिक बाह्य तत्त्वके साथ प्रबल साम्य रखता है। चैतन्यका जीवन जो सीधे-सादे रूमानी पद्यमें लिखा गया है और अपनी स्पष्टता तथा सरलताके कारण प्रिय लगता है पर काव्य-शैलीमें अपूर्ण है, एक धार्मिक आंदोलनके जन्म और प्रतिष्ठापनका अनु-पम समसामयिक चित्रण है। दो अन्य कविताएं जो उच्चकोटिक रचनाएं बन गयी हैं शिवकी शक्ति-रूपा देवी दुर्गा या चंडीकी महिमाका कीर्तन करती हैं,—उनमेंसे एक तो है मुकुन्दरामकी "चंडी", महान् काव्य-छटासे संपन्न एक शुद्ध रूमानी उपन्यास जो प्रचलित पौराणिक कथाके ढांचेमें लोगोंके जीवनका एक अत्यंत सजीव चित्र प्रस्तुत करता है और दूसरी, भारतचंद्रकी "अन्नदा-मंगल", यह अपने पहले भागमें देवताओंकी पौराणिक कहानियोंका नये ढंगसे वर्णन करती है जैसी कि वे एक ग्रामीण बंगालीके द्वारा अपने निज मानवीय जीवनके रूपमें कल्पनामें लायी जा सकती थीं, दूसरे भागमें एक रोमांचक प्रेम-कथा और तीसरेमें जहांगीरके समयकी एक ऐतिहासिक घटनाका वर्णन करती है, ये सब विषम तत्त्व एक ही केंद्रीय उद्देश्यका विकास करते हैं और कल्पनाकी किसी उच्चताके बिना पर वर्णनकी अतुलनीय विशदता और प्राणवंत तथा असंदिग्ध भाषा-शैलीकी ओजस्विताके साथ चित्रित किये गये हैं। यह समस्त काव्य, महाकाव्य और रूमानी उपन्यास, यह नीति-काव्य, राम-दासकी कविता और तिरुवल्लुवरका प्रसिद्ध कुरल जिसके मुख्य प्रतिनिधि हैं, और दार्शनिक

तथा भक्तिपूर्ण गीत किसी सुशिक्षित वर्गकी रचना नहीं हैं, न ये उस वर्गकी सराहना प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही लिखे गये हैं, बल्कि कुछ एक अपवादोंको छोड़कर एक लोकप्रिय संस्कृतिकी अभिव्यक्ति हैं। तुलसीदासका रामायण, रामप्रसादके और बाउलों अर्थात् भ्रमणशील वैष्णव भक्तोंके गाने, रामदास और तुकारामका काव्य, तिरुवल्लुवर और कवयित्री अव्वैके नीति-वाक्य और दक्षिणी संतों तथा आल्वारोंके अंतःप्रेरित गीत सभी वर्गोंके लोगोंमें प्रसिद्ध थे और उनका विचार या भावावेग लोगोंके जीवनमें गहरे पैठा हुआ था।

भारतीय साहित्यका मैंने इतने विस्तारके साथ वर्णन किया है क्योंकि, निःसंदेह, यह एक जातिकी संस्कृतिका पूरा न सही पर फिर भी अत्यंत वैविध्ययुक्त और विपुल इतिवृत्त है। इस कोटिके तथा ऐसी महत्तासे युक्त सृजनकी कम-से-कम तीन सहस्राब्दियां, निश्चय ही, एक वास्तविक और अत्यंत अद्‌भुत संस्कृतिकी साक्षी हैं। अंतिम युग निःसंदेह एक क्रमिक ह्रासको दर्शाता है, परंतु हम ह्रासके भी तेजको और विशेषकर धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक सृजनकी अविच्छिन्न जीवनी-शक्तिको भी देख सकते हैं। जिस समय यह अपने अवसानके निकट पहुंचती प्रतीत होती थी उस समय भी यह पहला अवसर मिलते ही पुनरुज्जीवित हो उठी है और फिरसे विकासका एक और चक्र प्रवर्तित कर रही है, सर्वप्रथम यह ठीक उन्हीं तीन चीजोंमें जो सबसे अधिक चिरस्थायी रहीं, अर्थात् आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रवृत्ति, साहित्य और चित्रकलामें पुनरुज्जीवित हो रही है, पर अभीसे यह पुनर्जागरण जीवन और संस्कृतिकी उन सब अनेकों प्रवृत्तियोंतक अपनेको विस्तारित करनेकी सुनिश्चित आशा बंधाता है जिनमें भारत कभी एक महान् और अग्रणी देश था।

